

मैत्रायणीय आरण्यक का समीक्षात्मकाध्ययन



पी-एच.डी. – (वैदिक अध्ययन) उपाधि

हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक

डॉ.देवेन्द्र सिंह

विभागाध्यक्ष

संस्कृत भाषा एवं साहित्य विभाग

शोधार्थी

नितिन कुमार गावकरे

पी-एच.डी. – (वैदिक अध्ययन)

नामाङ्कन सङ्ख्या– En17-00055

भाषा,साहित्य एवं कला प्राध्ययन केन्द्र

साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

साँची, रायसेन (म. प्र.)

2021

॥कृतज्ञता-ज्ञापन॥

सर्वप्रथम मैं सर्वशक्तिमान् परमपिता परमेश्वर को नमन करता हूँ, जिनकी असीम अनुकम्पा से यह शोधकार्य सम्पन्न हो सका तथा इस शोध कार्य को पूर्ण करने में सफलता प्राप्त हुई है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध अत्यन्त परिश्रम एवं लगन का कार्य है। जिसके लिए एक निश्चित योजना एवं मार्गदर्शन की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इस शोध प्रबंध का कार्य मेरे स्वयं के सामर्थ्य से पूर्णता को प्राप्त नहीं हो पाता । अतः मैं अपने शोधनिर्देशक विभागाध्यक्ष संस्कृत भाषा एवं साहित्य विभाग के परमादरणीय परमपूज्य गुरुवर डॉ. देवेन्द्र सिंह जी के चरणों में सश्रद्ध प्रमाणाञ्जली समर्पित करता हूँ, जिनके सत्परामर्श, अथक प्रोत्साहन तथा वैदग्ध्यपूर्णपथनिर्देशन के कारण से यह शोध-कार्य सम्पन्न हो सका। संस्कृत विभाग के सहायक अध्यापक आचार्य डॉ विश्वबन्धु जी का मेरे शोध कार्य की पूर्ति में महनीय सहयोग रहा है। इसी क्रम में अंग्रेजी विभागाध्यक्ष डॉ. नवीन मेहता सर व वैकल्पिक शिक्षा विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ. प्रभाकर पाण्डेय सर, योग एवं आयुर्वेद विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ. उपेन्द्र बाबू खत्री सर तथा विश्वविद्यालय के सभी अध्यापकों को धन्यवाद एवं सादर नमन करता हूँ।

मेरे जीवन के आद्य प्रेरणास्रोत प्रातः स्मरणीया पूज्या माताजी के चरणकमलों में सश्रद्ध प्रणाम। आप आबाल्याद् मेरे प्राणों के आधारभूतप्रेरणा की प्रतिमूर्ति तथा कर्तव्य कर्मों के उपदेष्टा हैं। , आपकी सत्यवादिता व कर्मनिष्ठा ने मेरे जीवन पथ को सदैव प्रशस्त किया है।

मेरे आदर्श पिता श्री दत्तात्रेय गावकरे एवं माता श्रीमती मीना देवी जिनका स्नेह और ममता अवर्णनीय है। मैं अपनी अनुजा बहन शितल गावकरे जिसका स्नेह व सहयोग शोधकार्य में ही

नहीं अपितु जीवन के हर क्षण में रहा है, तथा नाना, नानी के प्रति सहृदय से आभार ज्ञापित करता हूँ जिनके त्याग, आशीर्वाद एवं सत्प्रेरणा से उच्चशिक्षणार्जन में सफल हुआ।

मैं अपने अग्रज भ्राताओं डॉ. भूपेन्द्र विद्यालंकार, डॉ. अंकुश जी डॉ. प्रताप चन्द्र राय के प्रति विशेष आभार ज्ञापित करता हूँ जिनके विशेष योगदान से मेरा शोधकार्य सम्पन्न हो सका।

मैं अपने सहयोगी एवं मित्रों, परमेश्वर, लवकेश, विनय, सचिन, नितेश मिश्र, सन्दीप धाकड़, भरत, महेशंकर, मानसी, पवन, निशा, बनास, स्मिता, चारु, अङ्कित, रमेश, विवेक, ललित, आशीष, अजित, विकास, दीपक, राजेश, कल्लु, उमाशंकर, लोकेश चौधरी, दीपक तिवारी, ऋषिकेश, अभिषेक आदि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जो सदैव इस शोध कार्य में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायक रहे हैं।

साँची विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय विभाग के हरीश कुमार असाठी जी एवं प्रकाश मुकाती जी महोदय का शोधकार्य की सामग्री उपलब्ध कराने में महनीय सहयोग प्राप्त हुआ। अतः ग्रन्थालय विभाग सहित विश्वविद्यालय परिवार के प्रत्येक सदस्य के प्रति आभार ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने मुझे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान किया।

धन्यवाद

नितिन कुमार गावकरे

शोधार्थी द्वारा घोषणा पत्र

मैं एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि यह शोध कार्य “मैत्रायणीय आरण्यक का समीक्षात्मकाध्ययन” डॉ० देवेन्द्र सिंह (शोध निर्देशक), विभागाध्यक्ष, संस्कृत भाषा एवं साहित्य विभाग के अधीन किया गया है मेरा मौलिक शोध-कार्य है जिसे विभागीय शोध-समिति द्वारा अनुमोदित किया गया है।

मैं यह घोषणा करता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार इस शोध-प्रबन्ध में किसी प्रकार का ऐसा तथ्य उद्धृत नहीं किया गया जो इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य विश्वविद्यालय के समक्ष किसी भी उपाधि हेतु प्रस्तुत किया गया हो। साथ में यह घोषणा करता हूँ कि -

1. मैंने यू०जी०सी० अधिनियम २०१८ के मापदण्डों के अनुसार एक सत्र का कोर्स वर्क सफलतापूर्वक पूर्ण कर लिया है।
2. मैंने शोध-प्रबन्ध प्रस्तुति पूर्व सेमीनार दिया है और दिए गये निर्देशों / सुझावों के आधार पर संशोधनों को सफलतापूर्वक शामिल किया है।
3. मेरे द्वारा शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित शोध कार्य को ISSN/रेफर्ड जर्नल में दो शोध-पत्र प्रकाशित किया गया है जिसकी छायाप्रति शोध-प्रबन्ध के अन्त में संलग्न है। मैंने संगोष्ठी में शोध-पत्र भी प्रस्तुत किए हैं।
4. मेरे द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में कोई भी सामग्री, किसी अन्य शोध से या किसी प्रकाशित सामग्री का हिस्सा नहीं है, यदि Plagiarism के अन्तर्गत कोई भी सामग्री पायी जाती है तो उसके लिए मैं स्वयं जिम्मेदार रहूँगा।

दिनांक

स्थान.....

शोधार्थी हस्ताक्षर

नितिन

प्रमाण पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि शोध-प्रबन्ध जिसका विषय **मैत्रायणीय आरण्यक का समीक्षात्मकाध्ययन** श्री **नितिन कुमार गावकरे** द्वारा किया गया शोध कार्य है जिसे साँची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय में पी०एच०डी०-उपाधि के लिए मेरे निर्देशन में पूर्ण किया गया।

मेरी जानकारी के अनुसार :

1. यह शोधार्थी का मौलिक कार्य प्रतीत होता है।
2. यह शोध कार्य यू०जी०सी० के दिशा-निर्देशों को पूरा करता है।
3. विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० से सम्बन्धित अध्यादेश की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

स्थान.....

हस्ताक्षर

दिनांक

शोध निर्देशक

हस्ताक्षर

विभागाध्यक्ष

सर्वाधिकार

मैं नितिन कुमार गावकरे एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान विश्वविद्यालय रायसेन द्वारा इस शोध-प्रबन्ध “मैत्रायणीय आरण्यक का समीक्षात्मकाध्ययन”को शैक्षणिक/अनुसंधान उद्देश्य से इलेक्ट्रॉनिक या प्रिंट प्रारूप में उपयोग करने के अधिकार होंगे।

नोट – शोधार्थी अथवा अन्य के द्वारा शोध-प्रबन्ध के आकड़ों /निष्कर्षों का प्रयोग व्यक्तिगत रूप से किया जा सकेगा बशर्ते कि यथा स्थान विश्वविद्यालय के सर्वाधिकार का उल्लेख किया जाए।

स्थान.....

हस्ताक्षर

दिनांक

शोधार्थी

भूमिका

वेद भारतीय ज्ञानगंगा के उत्स है। वेद अर्थात् ऐसा दीप्तिपुंज जो अपनी दिव्य आभा से स्वयं भासित है और जिसके द्वारा समस्त वाङ्मय प्रकाशित है। विद् धातु से निष्पन्न वेद शब्द भारतीय परम्परा के अनुसार ज्ञान का वाचक है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार वेद शब्द चार धातुओं से विभिन्न अर्थों में बनता है।

विन्दन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्याः यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च स भवन्ति ते वेदाः।¹

आचार्य सायण के अनुसार –

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।²

आचार्य सायण के अनुसार – प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की सहायता से लौकिक विषयों का ज्ञान होता है। अलौकिक विषयों यथा स्वर्ग, ब्रह्म, धर्म आदि का ज्ञान इन प्रमाणों के द्वारा नहीं हो सकता है। चूँकि इनका ज्ञान वेद के द्वारा ही होता है इसलिये अलौकिक विषयों के ज्ञान में वेद ही प्रमाण है। कहा है –

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।

एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥³

वेद से ही ज्ञान की धाराएँ सभी दिशाओं में प्रवाहित हुई हैं, वेद ज्ञान का वह प्रथम सूर्य है, जिस सूर्य की किरणें, जिसकी रश्मियाँ जब हमारे अन्तस्थल को व जीवन को स्पर्श करती हैं, तो जीवन प्रकाशित हो जाता है, जगमग हो जाता है, आलोक से भर जाता है। प्रसन्नता से, आनन्द से

¹ ऋ. भा. भू. सम्पा. युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. २२

² तै. भा. भू. सम्पा. बलदेव उपाध्याय, पृ. २

³ तै. भा. भू. में सायण द्वारा उद्धृत

जीवन में एक नूतन उत्साह, एक नयी ऊर्जा की प्राप्ति होती है। उस ज्ञान राशि का नाम जो परम पिता का वरदान है, मानवमात्र के लिए अमृत है। उसके विषय में हमारे प्राचीन ऋषियों, हमारे तत्त्ववेत्ताओं ने हमारे साक्षात्कृत धर्म ऋषियों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए जो कुछ भी कहा, उसको हमें स्मरण कर लेना चाहिए।

आचार्य मनु के अनुसार वेद धर्म के मूलतत्त्वों को जानने का एकमात्र साधन है –

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ।⁴

महर्षि पतंजलि ने भी महाभाष्य में कहा है –

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्ययो ज्ञेयश्च।⁵

वेद के लिए श्रुति, निगम, आगम, त्रयी, छन्दस्, आम्नाय, स्वाध्याय आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है।

वैदिक वाङ्मय के चार भाग हैं-

१. संहिता
२. ब्राह्मण
३. आरण्यक
४. उपनिषद्

क्रमशः इन चारों विभागों का वर्णन निम्नवत् प्रस्तुत है।

१. संहिता-

⁴ मनु. २. ६

⁵ महा. आह्निक १

वेद शब्द विद् धातु से बनता है, अतः वेद का अर्थ है ज्ञान और संहिता शब्द का अर्थ है संकलन। इस प्रकार वेद संहिता ज्ञान का संग्रह है। पाणिनि के अनुसार संहिता शब्द का पारिभाषिक अर्थ है- परः संनिकर्षः संहिता⁶ अर्थात् स्वर का और स्वरमिश्रित व्यञ्जनों का परस्पर स्वाभाविक अर्धमात्रा से अधिक काल के व्यवधान से उच्चारण करना ही संहिता है।

वैदिक संहिताएं चार हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद।

ऋग्वेद

ऋग्वेद चारों वेदों में सर्वप्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण माना जाता है। ऋग्वेद की अध्ययन-परम्परा ऋषि पैल से आरम्भ हुई है। ऋग्वेद में छन्दोबद्ध मन्त्रों का संकलन किया गया है।

ऋक् का अर्थ- छन्दोबद्ध रचना (वर्णानुपूर्वी) को ऋक् संज्ञा प्राप्त है।

(1) ऋच्यते स्तूयतेऽनया इति ऋक् जिन मन्त्रों के द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है , उन्हें 'ऋक्' कहते हैं।⁷

ऋग्वेद की शाखाएं

महाभाष्य के आधार पर ऋग्वेद की 21 शाखाएँ मानी जाती हैं- “एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्”। सम्प्रति केवल शाकल शाखा ही प्रचलित है। चरणव्यूह के अनुसार ऋग्वेद की पाँच प्रमुख शाखाएँ हैं- शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन, माण्डूकायन।

शाकल - सम्प्रति ऋग्वेद की शाकल शाखा ही प्रचलित एवं उपलब्ध है।

⁶ पाणिनि सूत्र १.४.१०९

⁷ जै. न्या. भा., २.१.१२

ऋग्वेद का विभाजन

वेद की संहिताओं का विभाजन क्रम एक-दूसरे से भिन्न है यजुर्वेद अध्यायों में विभाजित है साम आर्चिक में तथा अथर्व काण्डों में विभाजित है। ऋग्वेद संहिता का विभाजन दो क्रमों में किया गया है: (1) अष्टक, अध्याय, वर्ग और मन्त्र। (2) मण्डल, अनुवाक, सूक्त और मन्त्र।

मण्डलक्रम

मण्डलक्रम ऐतिहासिक एवं विज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें सम्पूर्ण ऋग्वेद को ऋषि और देवता के अनुसार 10 मण्डलों में विभक्त किया गया है। यही कारण है कि ऋग्वेद को दशतयी भी कहा जाता है। इसमें बालखिल्य के 11 सूक्तों के 80 मन्त्रों को सम्मिलित करते हुए 85 अनुवाक, 1028 सूक्त और 10, 552 मन्त्र हैं।

यजुर्वेद संहिता

यजुष् शब्द का अर्थ -

- (1) यजुर्यजते: - यज्ञ से संबद्ध मन्त्रों को यजुष् कहते हैं।⁸
- (2) अनियताक्षरावसानो यजुः - जिन मन्त्रों में पद्यों के तुल्य अक्षर-संख्या निर्धारित नहीं होती है, वे यजुष् हैं।

यजुर्वेद मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त है- (1) शुक्ल यजुर्वेद (2) कृष्ण यजुर्वेद।
शुक्ल यजुर्वेद- शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएं हैं। तथा एक-एक संहिताएं उपलब्ध हैं-

- (1) माध्यन्दिन या वाजसनेयि-संहिता - इसमें 40 अध्याय और 1975 मन्त्र हैं।
- (2) काण्व संहिता - इसमें भी 40 अध्याय हैं और मंत्रसंख्या 2086 है, अर्थात् वाजसनेयि शाखा से इसमें 111 मंत्र अधिक हैं।

⁸ निरुक्त, ७.१२

कृष्ण यजुर्वेद - शुक्लयजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद में मुख्य अन्तर है कि शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र-भाग है, जबकि कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ उनकी व्याख्या और विनियोग आदि का भी उल्लेख है। 'चरणव्यूह' में यजुर्वेद की 86 शाखाओं का उल्लेख है, जिसमें शुक्ल यजुर्वेद की 17 शाखाएँ हैं, शेष 69 कृष्ण यजुर्वेद की हैं। संप्रति कृष्ण यजुर्वेद की केवल 4 शाखाएँ ही उपलब्ध निम्न प्रकार हैं- (1) तैत्तिरीय शाखा (2)मैत्रायणी (3)काठक (या कठ) (4) कपिष्ठल-कठ शाखा।

सामवेद संहिता

सामन् (साम) का अर्थ - सामन् या साम का अर्थ गीतियुक्त मन्त्र है। साम के लिए गीतियुक्त होना अनिवार्य है।

(ख) ऋचि अध्यूढं साम।⁹

सामवेद के दो मुख्य भाग हैं- (1) पूर्वार्चिक (2) उत्तरार्चिक। आर्चिक का अर्थ है- ऋचाओं का समूह।

पूर्वार्चिक - इसमें चार काण्ड एवं ६ अध्याय हैं। इन अध्यायों के खंड किए गए हैं और इनको 'दशति' नाम दिया गया है।

उत्तरार्चिक - इसमें 21 अध्याय या 9 प्रपाठक हैं और मंत्रों की संख्या 1225 है।

अथर्ववेद संहिता

निरुक्त और गोपथ ब्राह्मण में अथर्वन् शब्द की दो प्रकार से व्याख्या की गई है। अथर्वन्- गतिहीन या स्थिरता से युक्त योग। निरुक्त के अनुसार 'थर्व' धातु का अर्थ है गति या चेष्टा, अतः अथर्वन् का अर्थ है- गतिहीन या स्थिर इसका अभिप्राय है कि जिस वेद में स्थिरता या चित्तवृत्तियों के निरोधरूपी योग का उपदेश है, वह अथर्वन् वेद है।

⁹ छान्दोग्य उपनिषद् १.३.४

ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्मन् शब्द का अर्थ 'मन्त्र' है- ब्रह्म वै मन्त्रः।¹⁰ अर्थात् वेदमन्त्रों की व्याख्या और विनियोग प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ को 'ब्राह्मण' कहते हैं।

उपनिषद्

'उपनिषद्' शब्द उप एवं नि उपसर्गपूर्वक 'षदलृ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। उप-उपसर्ग का अर्थ समीप है और निषद् का अर्थ निष्ठापूर्वक बैठना है अर्थात् परम तत्त्व के समीप ले जाने वाले ज्ञान को उपनिषद् कहते हैं। आचार्य शंकर ने उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या माना है। शंकर द्वारा उपनिषद् शब्द के तीन अर्थ बताए गए हैं-

विशरण - नाश होना, जिसमें संसार की मूलभूत अविद्या का नाश होता है।

गति - पाना या जानना, जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है या उसका ज्ञान होता है।

अवसान - शिथिल होना, जिससे मनुष्य के दुःख या बन्धन शिथिल होते हैं।

इस प्रकार शंकराचार्य ने अविद्या का नाश, ब्रह्मप्राप्ति और उसका ज्ञान तथा दुःख-निरोध, इन तीन अर्थों को लेकर उपनिषद् को ब्रह्मविद्या का द्योतक माना है।¹¹ उपनिषदों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। अतः वास्तविक उपनिषदों की संख्या कितनी है यह निर्धारित करना कठिन है। उपनिषदों की संख्या 108 से 200 तक मानी जाती है। मुक्तिक

¹⁰ शतपथ ब्राह्मण ७.१.१.५

¹¹ कठ उपनिषद्, शंकर भाष्य की प्रस्तावना।

उपनिषद् में उपनिषदों की संख्या 108 बताई गयी है। शंकराचार्य द्वारा 10 उपनिषदों को प्रामाणिक और प्राचीन माना गया है। प्रमुख उपनिषदों के नाम और संख्या इस प्रकार है-

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डुक्य-तित्तिरः।

ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥¹²

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को भूमिका और उपसंहार के अतिरिक्त छः अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय का नाम “आरण्यक साहित्य और उसमें मैत्रायणीय आरण्यक की स्थिति” है। जिसमें आरण्यक का परिचय, आरण्यकों का प्रतिपाद्य विषय, उपलब्ध आरण्यकों का सामान्य परिचय, मैत्रायणीय आरण्यक का परिचय, महत्व का उल्लेख किया गया है। द्वितीय अध्याय का नाम “ब्रह्मयज्ञ विमर्श” रखा गया है। इसमें ब्रह्मयज्ञ का स्वरूप, महत्व, फल तथा उपादेयता, वैराग्य विमर्श, शाकायन्य तथा बृहद्रथ विषयक आख्यायन, भारत के तत्कालीन प्रतापी सम्राटों का परिचय दिया गया है। तृतीय अध्याय का नाम “ब्रह्मविद्या विमर्श” है। प्रस्तुत अध्याय में ब्रह्मविद्या विमर्श, ब्रह्म विद्या-अन्य तन्त्रों में स्थिति व तुलनात्मक अध्ययन, सृष्टि प्रक्रिया तथा वैश्वानर के स्वरूप का निरूपण किया गया है। चतुर्थ अध्याय का नाम “जीवात्मा, ब्रह्मतत्त्व तथा आदित्य की अवधारणा” है। इसमें जीवात्मा का स्वरूप विवेचन, कर्मफल व पुनर्जन्म की अवधारणा, ब्रह्म की नाना रूपों में स्तुति, आदित्य की उपासना का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। पंचम अध्याय का नाम “ओम, अन्न, कालः स्वरूप एवं विमर्श” है। जिसमें गायत्री की उपासना, आत्मयज्ञ की समालोचना, अन्न का स्वरूप, फल तथा उपादेयता, काल का महत्व, षड्भुज योग विवेचन किया गया है। षष्ठ अध्याय का नाम “आत्मा एवं मोक्ष का स्वरूपः विमर्श” है। जिसमें शब्दब्रह्म का स्वरूप, निर्विषय मन से मोक्षप्राप्ति, आत्मस्वरूप का वर्णन, अग्निहोत्रविषयिणी उपासना तथा नाड़ी उन्नयन प्रकार का विवेचन किया गया है।

¹² मुक्तकोपनिषद् १.३०

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्राधान्येन क्षेत्र मैत्रायणीय आरण्यक है। इस ग्रन्थ में मैत्रायणीय आरण्यक के सभी तत्वों- आत्मा, ब्रह्मविद्या, सृष्टि-उत्पत्ति, ज्ञान, कर्म, गायत्री, आदित्य उपासना और तत्त्वज्ञान का समीक्षात्मकरूप से प्रतिपादन किया गया है। वैदिक वाङ्मय एवं विशेष रूप से आरण्यकों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों और दर्शन शास्त्र से सम्बन्धित वाङ्मय का यथा सम्भव उपयोग किया गया है।

-----*****-----

विषयानुक्रमणिका

	पृ.सं
➤ घोषणा-पत्र	
➤ प्रमाण-पत्र	
➤ कृतज्ञता-ज्ञापन	1-3
➤ संकेताक्षर-सूची	4-6
भूमिका	8-16
प्रथम अध्याय : आरण्यक साहित्य और उसमें मैत्रायणीय आरण्यक की स्थिति	17-42
१.१ आरण्यक का परिचय नामकरण एवं उसका महत्व	
१.२ आरण्यकों का प्रतिपाद्य विषय	
१.३ उपलब्ध आरण्यक ग्रन्थों का सामान्य परिचय	
१.४ मैत्रायणीय आरण्यक का सामान्य परिचय	
१.५ मैत्रायणीय आरण्यक : ऐतिह्य, स्वरूप तथा महत्व	
द्वितीय अध्याय : ब्रह्मयज्ञविमर्श	43-74
२.१ ब्रह्मयज्ञ : स्वरूप, महत्व	
२.२ ब्रह्मयज्ञ : फल तथा उपादेयता	
२.३ ब्रह्मयज्ञ का दार्शनिकविवेचन	
२.४ वैराग्य विमर्श	
२.५ शाकान्य का उपदेश तथा बृहद्रथ विषयक आख्यान	
२.६ भारत के तत्कालीन सम्राटों का परिचय	

तृतीय अध्याय : ब्रह्मविद्याविमर्श

75-104

- ३.१ ब्रह्मविद्या (रहस्य विद्या) विमर्श
- ३.२ ब्रह्मविद्या : अन्य तन्त्रों में स्थिति व तुलनात्मक अध्ययन
- ३.३ सृष्टि प्रक्रिया
- ३.४ वैश्वानर

चतुर्थ अध्याय- जीवात्मा, ब्रह्मतत्त्व तथा आदित्य की अवधारणा

105-140

- ४.१ जीवात्मा का स्वरूप विवेचन
- ४.२ कर्मफल मीमांसा व पुनर्जन्म की अवधारणा
- ४.३ ब्रह्म की नाना रूपों में स्तुति : महत्त्व तथा तदुपादेयता
- ४.४ आदित्य की उपासना

पञ्चम अध्याय- ओम्, अन्न, कालः स्वरूप विमर्श

141-181

- ५.१ गायत्री की उपासना
- ५.२ आत्मयज्ञ की समालोचना
- ५.३ अन्न की उपासना
- ५.४ काल का स्वरूप
- ५.५ षडङ्गयोग विवेचन

षष्ठ अध्याय- आत्मा एवं मोक्ष का स्वरूपः विमर्श

182-211

- ६.१ शब्दब्रह्म का स्वरूप
- ६.२ निर्विषय मन से मोक्षप्राप्ति
- ६.३ आत्मस्वरूप का वर्णन
- ६.४ अग्निहोत्रविषयिणी उपासना
- ६.५ नाडी उन्नयन प्रकार

उपसंहार

212-216

सन्दर्भग्रन्थसूची

217-226

परिशिष्ट

पञ्चम अध्याय

ओम्, अन्न, कालः स्वरूप विमर्श

5.1 गायत्री की उपासना

5.2 आत्मयज्ञ की समालोचना

5.3 अन्न की उपासना

5.4 काल का स्वरूप

5.5 षडङ्गयोग विवेचन

5.1 गायत्री की उपासना

ओङ्कार का स्वरूप –

अर्वाग्विचरत एतौ प्राणादित्या एता उपासितोमित्येतदक्षरेणव्याहृतिभिः सावित्र्या चेति।

इनकी उपासना अविनाशी अक्षर ओङ्कार के द्वारा भूः, भुवः और स्वः इन व्याहृतियों तथा सावित्री मन्त्र से करनी चाहिए।

छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि –

वाचारम्भणं विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्¹

हे सौम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिंड के द्वारा संपूर्ण मृणमय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।

हे सोम्य! लोक में जिस प्रकार कमण्डलु और घट आदि के कारणभूत एक मृत्पिण्डके ज्ञान ले लिए जाने पर ही उसका विकारजात संपूर्ण मृन्मय अर्थात् मृत्तिका का कार्यसमूह जान लिया जाता है।

यहाँ पर शंका करते हैं मृत्तिका के पिण्डरूप कारण का ज्ञान होने पर अन्य कार्यवर्ग का ज्ञान कैसे हो सकता है?

समाधान में कहते हैं - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्य अपने कारण से अभिन्न होता है। तुम जो ऐसा मानते हो कि अन्य का ज्ञान होने पर अन्य नहीं जाना जा सकता, सो यह बात उस समय तो ठीक होती है जबकि कारण से कार्य भिन्न होता है किंतु इस प्रकार कार्य अपने कारण से भिन्न है नहीं।

शंका- तो फिर लोक में ऐसा क्यों कहा जाता है कि यह कारण है और यह इसका विकार है?

समाधान- सुनो, यह वाचारम्भण अर्थात् वाणी पर ही अवलंबित है। कौन? नामधेय विकार- नामधेय पद में नाम शब्द से स्वार्थ में धेय प्रत्यय हुआ है।

वस्तुतः विकार नाम की कोई वस्तु नहीं है, यह तो केवल वाणी पर अवलंबित नाममात्र ही है सत्य तो एकमात्र मृत्तिका ही है।

हे सौम्य! जैसे एक लोहमणि सोने की ईंट के ज्ञान से सभी स्वर्णनिर्मित गहने जाने जा सकते हैं। वाणी के आश्रय में रहे हुए नामों के ही यह सब विकार हैं। वास्तव में तो यह सोना ही सत्य है।

¹ छा.१.१.७

उसी प्रकार आगे कहते हैं जिस प्रकार एक ही नखैनी नख काटने का औजार के ज्ञान से सभी लोहमय पदार्थ जाने जा सकते हैं। लोहोत्पन्न सभी पदार्थों का नाममात्र वाणी के आश्रय में रहे हुए विकार हैं। वास्तव में तो सत्य तो एक लोहा ही है।²

छांदोग्य उपनिषद् में ओंकार की उपासना करने का फल बताया है- जो विद्वान् उपासक इस उद्गीथ रूप अक्षर की उपासना करता है, वह संपूर्ण कामनाओं की प्राप्ति कराने वाला होता है।

जैसा कि उसकी जिस-जिस प्रकार उपासना करता है वैसा ही हो जाता है।

ओंकार ही अनुज्ञाक्षर है। जो अनुज्ञा हो और अक्षर भी हो उसे अनुज्ञाक्षर कहते हैं। अनुज्ञा अनुमति का नाम है, अर्थात् ओमकार अनुज्ञा है। वह अनुज्ञा किस प्रकार है ? तो कहते हैं -लोक में कोई विद्वान् या धनी पुरुष जिस किसी ज्ञान अथवा धन के लिए अनुमति देता है तो उस संबंध में अपनी अनुमति देते हुए वह ॐ ऐसा ही कहता है। लोक में भी "मैं तेरा यह दान देता हूँ" ऐसा कहने पर ॐ ऐसा ही कहते हैं।

अतः अर्थात् यही समृद्धि है जो कि अनुज्ञा कहलाती है। जो अनुज्ञा है वही समृद्धि क्योंकि अनुज्ञा समृद्धिमूलक होती है। समृद्ध पुरुष ही ऐसी अनुज्ञा देता है जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि उनका समृद्धि गुणवाला है। जो ऐसा जानने वाला पुरुष इस अक्षर की उपासना करता है, वह समृद्धिगणयुक्त वस्तु का उपासक होने के कारण उसके ही समान धर्मवाला होकर अपने यजमान की कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है।

ओंकार की स्तुति

इसके बाद श्रुति उस अक्षर में रुचि उत्पन्न करने के लिए उसकी स्तुति करती है क्योंकि वह उपास्य है। उस अक्षर से ही ऋग्वेदादि रूप त्रयीविद्या प्रवृत्त होती है। ॐ ऐसा कह कर ही अध्वर्यु आश्रावण करता है , ॐ ऐसा कहकर ही होता शंसन करता है तथा ॐ कहकर ही उद्गाता

² छा.उप. ६.१.३

उद्धाटन करता है। इस अक्षर की पूजा के लिए ही संपूर्ण वैदिक कर्म है। इसकी महिमा और रस (व्रीहि-यवादि हवि) के द्वारा सब कर्म प्रवृत्त होते हैं। वह कर्म भी इस अक्षर की अपचिति -पूजा के लिए है, क्योंकि वह परमात्मा का प्रतीक है, अतः उसकी पूजा परमात्मा की ही पूजा है, जैसा कि "अपने कर्म से उसका पूजन करके मनुष्य सिद्धि लाभ करता है" यह स्मृति से सिद्ध होता है।

तथा इस अक्षर की महिमा- महत्व यानी ऋत्विज् एवं यजमान आदि के प्राणों से ही इस अक्षर के रस व्रीहि-यवादि से निष्पन्न हुए हविष्य से ही वैदिक कर्म संपन्न होते हैं। तो क्या वे प्राण और हवि उस अक्षर के विकार है ? इस पर कहते हैं- वे यागहोमादि इस अक्षर के उच्चारण पूर्वक ही किये जाते हैं। वे क्रम आदित्य को प्राप्त होते हैं। फिर उससे वृष्टि आदि क्रम से प्राण और अन्न की उत्पत्ति होती है तथा प्राण और अन्न से यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है। इसलिए इस अक्षर की महिमा से और रस से ऐसा कहा गया है।³

यद्ब्रह्म तज्ज्योतिः प्रकाशस्वभावं यत्तज्ज्योतिर्ब्रह्माख्यं स आदित्य सूर्यः येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः इति श्रुतेः।⁴⁵

ब्रह्म प्रकाश से ही सबको प्रकाश की प्राप्ति होती है इसका उल्लेख किया गया है।

वह चेतनों में चेतन किस प्रकार है यह बतलाया है-

उस परमात्मा में, सब का प्रकाशक होने पर भी सूर्य प्रकाशित नहीं होता, अर्थात् वह ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करता। अपितु वह उस सर्वात्मा ब्रह्म के प्रकाश से ही सब रूपों को प्रकाशित करता है, क्योंकि उसमें स्वयं प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं है। तथा न चंद्र और तारे एवं न विद्युत ही वहाँ प्रकाशित होते हैं। फिर हमें दिखाई देने वाला यह अग्नि तो प्रकाशित हो ही कैसे सकता है? अधिक क्या यह जो जगत् भास रहा है, स्वतः प्रकाश रूप होने के कारण उस

³ छा.उप. १.१.७

⁵ छा.१.३.१

परमात्मा के प्रकाशित होने से ही प्रकाशित हो रहा है, जिस प्रकार लोहा आदि पदार्थ जलाने वाले अग्नि के साथ उसी की शक्ति से जलाते हैं स्वतः नहीं। यह सब सूर्य आदि उसके ही प्रकाश यानी दीप्ति से प्रकाशित होते हैं कहा भी है- जिसके तेज से युक्त होकर सूर्य तपता है, उसे न सूर्य प्रकाशित करता है न चंद्रमा और न अग्नि ही इत्यादि।⁶

गीता में भी कहा गया है कि उस तेजोमय धाम को यानी परम पद को सूर्य-आदित्य सब को प्रकाशित करने की शक्तिवाला होने पर भी प्रकाशित नहीं कर सकता। वैसे ही शशांक और पावक-अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकते। जिस परमधाम को पाकर मनुष्य पीछे नहीं लौटते और जिसको सूर्यादि ज्योतियां प्रकाशित नहीं कर सकतीं, वह मुझ विष्णु का परमधाम पद है।⁷

आदित्य दृष्टि से उद्गीथ उपासना

क्योंकि वह ओंकार अनेक प्रकार से उपासनीय है। जो कि यह आदित्य तपता है, उसके रूप में उद्गीथ की उपासना करे। 'तमुद्गीथम्' इसमें उद्गीथ शब्द अक्षरवाचक होता हुआ किस प्रकार आदित्य में सगत होता है? यह बतलाया गया है।

यह आदित्य उदित होता हुआ ऊपर की ओर जाता हुआ प्रजा के लिए -प्रजा के अन्न की उत्पत्ति के लिए उद्गान करता है, क्योंकि उसके उदित ना होने पर श्रीहरि आदि की निष्पत्ति नहीं हो सकती, जिस प्रकार उद्गाता अन्न के लिए उद्गान करता है, उसी प्रकार वह उद्गान करने के समान उद्गान करता है। अतः सूर्य उदित है यह इसका तात्पर्य है।

इसके सिवा, वह उदित होकर रात्रि के अंधकार और उससे होने वाले प्राणियों के भय का भी नाश करता है। जो इस प्रकार के गुणों से युक्त सविता की उपासना करता है, वह जन्म-मरणादि

⁶ श्वेता. उप. ६.१४

⁷ गीता १५.६

रूप आत्मा के भय और अंधकार का अर्थात् उसके कारणभूत अज्ञान का नाश करने वाला होता है।

दूसरे श्लोक में कहा गया है गुण दृष्टि से प्राण सूर्य के सदृश ही है तथा सूर्य प्राण के सदृश है, क्योंकि यह प्राण उष्ण है और वह सूर्य भी उष्ण है। तथा इस प्राण को 'स्वर' ऐसा कह कर पुकारते हैं और उस सूर्य को 'प्रत्यास्वर' वर्ग ऐसा कहते हैं, क्योंकि प्राण तो केवल स्वरण(गमन)ही करता है। मरने के पश्चात वह पुनः लौटता नहीं, किंतु सूर्य प्रतिदिन अस्तमित हो-होकर लौट आता है, इसलिए वह प्रत्यस्वर है। इस प्रकार गुण और नाम से भी यह प्राण और आदित्य एक दूसरे के तुल्य ही है। अतः तत्त्वतः अभेद होने के कारण इस प्राण और उस सूर्यरूप से उद्गीथ (ओंकार) की उपासना करें।⁸

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्वि किञ्चाजानात्योमित्येव तदाह ।

ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त अर्थात् अर्थात् कारण और कार्य इनमें से जो मूर्त है, वह असत्य है और जो अमूर्त है, वह सत्य है। वही ब्रह्म है, वही ज्योति प्रकाश स्वरूप है। जो ज्योति है, वह आदित्य है। वह आदित्य ही ओङ्कार स्वरूप में प्रकट हुआ। ओङ्कार गत अ,उ,म्, रूप में उसने अपने को तीन प्रकार से विभक्त कर लिया। इन्हीं तीन मात्राओं अथवा अवयवों से सब कुछ ओत-प्रोत है। वह भी जो इसमें है। जैसे – पट- पट तभी कहलाता है, जब उसमें लम्बे धागे चौड़ाई के धागों से परस्पर गुंथे हों, ठीक उसी प्रकार ओङ्कार में सब कुछ अनुस्यूत है। इसीप्रकार से कहा है- यह आदित्य ओङ्कार ही है, इस प्रकार से ध्यान करते हुए साधक अपने को युक्त करे।

⁸ छा. १.३.१

अथान्यत्राप्युक्तमथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः। इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणवा इत्येवं ह्याहोद्गीथं प्रणवाख्यं प्रणेतारं भारूपं विगतनिद्रं विजरं विमृत्युं त्रिपदं त्र्यक्षरं पुनः पञ्चधा ज्ञेयं निहितं गुहायामित्येवं ह्याह।

ऊर्ध्वमूलं त्रिपाद्ब्रह्म शाखा आकाशावाय्वग्न्युदकभूम्यादय एकोऽश्वत्थनामैतद्ब्रह्मैतस्यैततेजो यदसा आदित्यः। ओमित्येतदक्षरस्य चैतत्। तस्मदोमिनेनैतदुपासीताजस्रमिति। एकोऽस्य सम्बोधयितेत्येवं ह्याह।⁹

एतदेवाक्षरं पुण्यमेदेवाक्षरं परम्।

एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य।¹⁰

और अन्यत्र भी कहा गया है। यह जो उद्गीथ है। तात्पर्य यह है कि सामगान करनेवालों की उद्गीथभक्ति का अवयव ओङ्कार ही ऋग्वेदियों के शस्त्र का अङ्भूत प्रणव है, अर्थात् सामवेदी जिसे उद्गीथ कहते हैं, ऋग्वेदी उसे ही प्रणव कहते हैं। यह आदित्य उद्गीथ कहते हैं, यह प्रणव है, उसी प्रकार से कहा गया है- प्रणव संज्ञक उद्गीथ प्रणेतार अर्थात् सन्मार्ग पर ले जानेवाला। प्रकाशस्वरूप, निद्रारहित, वृद्धावस्था से रहित, मृत्युहीन, तीन पदों वाला, तीन अक्षरों वाला, और पुनः पाँच प्रकार से हृदय गुहा में निहित है- यह समझना चाहिए। इसी प्रकार से हृदय गुहा में निहित है। यह समझना चाहिए।

इसी प्रकार से कहा गया है- यह जो अश्वत्थ नामक ब्रह्म है, उसके तीन पाद हैं। उसका मूलभाग, अर्थात् जड़वाला हिस्सा ऊपर के लोकों में है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इत्यादि उसकी शाखाएँ हैं। यह ब्रह्म है। यह जो आदित्य है, वह उसी का तेज है और ओम् अक्षर का भी तेज वही आदित्य है। इसलिए इस आदित्य की उपासना निरन्तर ओङ्कार रूप से ही करनी चाहिए। इस ओङ्कार के महत्व का ठीक-ठीक ज्ञान करानेवाला यह मन्त्र है-

⁹ मैत्रा. आ. ६. ४

¹⁰ वहीं. ६. ४

यह ओङ्कार अक्षर अत्यन्त पुण्यप्रद और परब्रह्म का प्रकाशक है। इस अक्षर के ज्ञान से साधक की जो भी इच्छा होती है, वह पूर्ण हो जाती है। और अन्यत्र भी कहा गया है। इस आदित्यात्मक और प्राणात्मक आत्मा की यह ओङ्कारस्वरूप देह नादमयी है। इसके स्त्री, पुरुष, और नपुंसक- ये तीनों लिङ्ग हैं।

अग्नि, वायु और आदित्य रूप में यह देह दीप्तिमयी रहती है। ब्रह्मा, रुद्र, और विष्णु के रूप में यह आधिपत्यसम्पन्न है। गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि संज्ञक तीनों अग्नियाँ इसके मुख हैं। ऋक्, यजुष् और साम के रूप में यह शरीर विज्ञानवान् है। भू (पृथिवी) भुवः (अन्तरिक्ष) और स्वः (स्वर्ग) ये तीनों इसके लोक हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों इसके काल हैं। प्राण, अग्नि और सूर्य इन तीन तापों से युक्त होने के कारण यह शरीर प्रतापवान् है। अन्न, जल और चन्द्रमा- इन तीनों से यह शरीर अप्यायित अर्थात् तृप्त तथा सन्तुष्ट है। बुद्धि, मन और अहङ्कार- इन तीनों से युक्त होने के कारण यह शरीर चैतन्यवान् है। प्राण, अपान और व्यान इनसे युक्त होने के कारण यह शरीर प्राणवान् है। इसलिए ओम् कहने से ये सभी सभी प्रस्तुत, पूजित और अर्पित हो जाते हैं। इसप्रकार से यह बतलाया गया है- हे सत्यकाम यह ओङ्कार अक्षर है, वही पर तथा अपर ब्रह्म है। अर्थात् परापर ब्रह्म के ज्ञान के लिए ओम् अक्षर आलम्बन है।

गोपथ ब्राह्मण में ओम् का महत्व बताया गया है-

ओम् ब्रह्म का पर्याय है। ओम् शब्द आप् (पाना) धातु से बना है। यह सर्वव्यापी है। ओम् के अ से भू और ऋग्, उ से अन्तरिक्ष और यजुः, म् से द्युलोक और साम उत्पन्न हुए। इसप्रकार ओम् से सारी सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति हुई।

ओम् इत्येतद् अक्षरं सर्वव्यापि ब्रह्म¹¹।

ओम् के जप का महत्व – इसमें कहा गया है कि शान्तचित्त होकर एक हजार बार ओम् का प्रतिदिन जप करने से सारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

¹¹ गोपथ ब्रा. १.१.१६

एतदक्षरं सहस्रकृत्व आवर्तयेत्, सिध्यन्त्यस्यार्थाः सर्वकर्माणि च।¹²

गायत्री का महत्व- गायत्री वेदों की माता है। गायत्री की उपासना से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। गायत्री का विराट् रूप सारा संसार है। द्यु, भू, अन्तरिक्ष सभी गायत्री के रूप हैं। गायत्री का जप सर्व सिद्धिप्रद है।

सोऽपहतपाप्माऽनन्तां श्रियम् अश्नुते। यः वेदानां मातरं सावित्रीम् उपास्ते।¹³

ओम् –गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्मवादी मंत्र के आरम्भ में ओम् अवश्य बोलते हैं। इससे शोक-भय आदि दूर होते हैं। “ब्रह्मवादिनः ओंकारम् आदितः कुर्वन्ति” ओंकारः पूर्वं उच्यते”¹⁴

गोपथ ब्राह्मण में गायत्री उपनिषद् है। इसमें सविता और सावित्री के युगल के द्वारा मन-वाणी, अग्नि-पृथिवी आदि के सूक्ष्म संबन्धों का वर्णन किया गया है।

अथाव्याहृतं वा इदमासीत्स सत्यं प्रजापतिस्तपस्तप्त्वाऽनुव्याहरद्भूर्भुवः स्वरित्येषैवास्य प्रजापतेः स्थविष्ठा तनूर्या लोकवतीति स्वरित्यस्याः शिरो नाभिर्भुवो भूः पादा आदित्यश्चक्षुः। चक्षुरायत्ता हि पुरुषस्य महती मात्रा चक्षुषा ह्ययं मात्राश्चरति।

सत्यं वै चक्षुरक्षिण्यवस्थितो हि पुरुषः सर्वार्थेषु चरति। एतस्माद्भूर्भुवः स्वरित्युपासीतानेन हि प्रजापतिर्विश्वात्मा विश्वचक्षुरिवोपासितो भतीत्येवं ह्याह। एषा वै प्रजापतेर्विश्वभृत्तनूः।

एतस्यामिदं सर्वमन्तर्हितमस्मिंश्च सर्वस्मिन्नेषाऽन्तर्हितेति। तस्मादेषोपासीत।¹⁵

और पहले यह सब जगदादि अव्याहृत अर्थात् नामादि से रहित था। प्रजापति ने तपोनुष्ठानपूर्वक इस अस्तित्वयुक्त जगदादि का भूः भुवः और स्वः इन तीन शब्दों से क्रमशः कथन किया। इन प्रजापति का सबसे स्थूल शरीर वही है, जो लोकों से युक्त है। इस शरीर का शिर स्वःस्वर्ग है, इसकी नाभि भुवः अन्तरिक्ष है और भूः इसके चरण हैं। आदित्य इसका नेत्र है। बड़े परिमाण में

¹² गोपथ ब्रा. १.१.२२

¹³ गोपथ ब्रा. १.१.३९

¹⁴ गोपथ ब्रा. १.१.२३

¹⁵ मैत्रा. आ. ६.६

पुरुष चक्षुओं पर ही निर्भर है अर्थात् आँखों के बिना उसकी गतिविधियाँ बड़ी मात्रा में नहीं हो पाती। आँखों से नाप-तौल करके ही यह कदम रखता है। नेत्र ही सत्य भी है, क्योंकि पर निर्भर होकर ही पुरुष समस्त कार्य-व्यवहार करता है। इस कारण भूःभुवःऔर स्वः-इनकी उपासनी करनी चाहिए। इस उपासना से जैसे विश्वात्मा प्रजापति, जो सम्पूर्ण जगत् का चक्षु है, उसकी ही उपासना हो जाती है। इसीप्रकार से कहा गया है। प्रजापति का यह सूर्य स्वरूप पूर्वोक्त शरीर सम्पूर्ण विश्व का भरण-पोषण करने वाला है। इसी में यह सम्पूर्ण जगत् अन्तर्निहित है तथा इस जगत् में प्रजापति का सम्पूर्ण शरीर समाया हुआ है। इसलिए इसकी उपासना करनी चाहिए।

तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सविता स वा एवं प्रवरणीय
आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गो देवस्य धीमहि सविता वै देवस्ततो योऽस्य भर्गाख्यस्तं
चिन्तयामीत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ धियो यो नः प्रचोदयादिति बुद्धयो वै धियस्ता योऽस्माकं
प्रचोदयादित्याहुर्ब्रह्मवादिनः।¹⁶

तत्सवितुर्वरेण्यम् - सविता देव यह आदित्य ही है। ब्रह्मवादियों का कथन है कि जो आत्मा की कामना करता है, उसे उसका वरण प्रकृष्ट रूप से करना चाहिए। वे हमारी बुद्धियों को प्रेरित करें।

ऋग्वेद में भी कहा गया है- जो हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं, उन सविता देवता के वरण करने योग्य, विकारनाशक, दिव्यता प्रदान करने वाले तेज को हम धारण करते हैं।¹⁷

यजुर्वेद में कहा गया है- उस प्राण स्वरूप, दुःख-नाशक, सुखस्वरूप, प्रकाशवान्, श्रेष्ठ, तेजस्वी, देवत्व प्रदान करने वाले परमात्माका ध्यान करते हैं, जो वह हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की प्रेरित करे।¹⁸

¹⁶ वहीं. ६.७

¹⁷ ऋ. ३.६२.१०

¹⁸ यजु. ३६.३ भूर्भुवःस्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

मनुस्मृति में कहा है-

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।

वेदत्रयान्निरदुहद भूर्भुवः स्वरितीति च।¹⁹

ओम् भूर्भुवः स्वः। अकार, उकार और मकार के योग से ओम् यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के नामों में उत्तम नाम है, जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं। जैसा पिता पुत्र का प्रेम सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। इस एक नाम से ही परमात्मा के सब नामों का बोध हो जाता है।

अकार से विराट् – जो विविध जगत् का प्रकाश करने वाला है। अग्निः – जो ज्ञानस्वरूप और सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। विश्वः- जिसमें सब जगत् प्रवेश कर रहा है, और जो सर्वत्र प्रविष्ट है, इत्यादि नामार्थ अकार से जानना चाहिए।

उकार से – हिरण्यगर्भः जिनके गर्भ में प्रवेश करने वाले सूर्यादि लोक हैं और जो प्रकाश करनेहारे सूर्यादि लोकों का अधिष्ठान है, इससे ईश्वर को हिरण्यगर्भ कहते हैं। हिरण्य के नाम ज्योति, अमृत और कीर्ति है। वायुः – जो अनन्त बलवाला और सब जगत् का धारण करनेहारा है। तैजसः- जो प्रकाशस्वरूप और सब जगत् का प्रकाशक है, इत्यादि अर्थ उकार मात्रा से जानना चाहिए।

मकार से- ईश्वरः- जो सब जगत् का उत्पादक , सर्वशक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है। आदित्यः – जो नाशरहित है। प्राज्ञः –जो ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है।

भूरिति वै प्राणः- जो सब जगत् के जीवन का हेतु और प्राण से भी प्रिय है, इससे परमेश्वर का नमः भूः है।

¹⁹ मनुस्मृति. २.७६

भुवरित्यपानः – जो मुक्ति इच्छा करनेवालों, मुक्तों और अपने सेवक जनों को दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है, इसलिए परमेश्वर का नाम भुवः है।

स्वरिति व्यानः – जो सब जगत् में व्यापक होके सबको नियम में रखता है और सबके ठहरने का स्थान तथा सुखस्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम स्वः है।

गायत्री मन्त्र का अर्थ बताते हैं - जो सब जगत् का उत्पन्न करनेहारा और ऐश्वर्य का देनेवाला है, देवस्य – जो सबके आत्माओं का प्रकाश करनेवाला और सब सुखों का दाता है, उसका जो अत्यन्त ग्रहण करने योग्य, धुद्ध, विज्ञानस्वरूप है, उसको हम लोग सदा प्रेमभक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें। वह परमेश्वर हमारी बुद्धियों को बुरे कार्यों से अलग करके सदा उत्तम कार्यों में प्रवृत्त करें।²⁰

वास्तव में वेद का यही स्वरूप है। आकाशगत परम तेज ही हृदयाकाश में सन्निहित है। इस तेज का कथन तीन प्रकार से किया गया है- अग्नि में, आदित्य में और प्राण में। यह जो ओम् अक्षर है, यही उसका वास्तविक स्वरूप है, जो आकाशगत होने पर भी हृदयान्तर्गत है। इसी ओम् अक्षर से वह जाग्रत होता है, उदित होता है, और उच्छ्वास लेता है। निरन्तर ब्रह्मविषयिणी बुद्धि उपासना का वह आलम्बन बन जाता है। ओङ्कार श्वास लेने के समय, प्रकाश को आगे बढ़ाते हुए आन्तरिक ऊष्मा उष्णता का स्थान ले लेता है-जैसे श्वास लेने पर धुआँ आकाश में क्रमशः उठकर एक स्कन्ध तने से दूसरे स्कन्ध का अनुसरण करता है।

यह उसी प्रकार की स्थिति है- जैसे पानी में नमक को डालना, अथवा घी को आग पर तपाना। जैसे उपासक की उपासना का विस्तार होने पर (सङ्कल्पमात्र से उसके सभी कार्य हो जाते हैं)। इस विषय में यहाँ यह उद्धरण दिया जाता है और ओम् को वैद्युत क्यों कहा जाता है क्योंकि यह उच्चारण मात्र से ही सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित कर देता है। अत एव ओम् इस अक्षर की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यह अपरिमित तेज से युक्त है।

²⁰ दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह पृ. २७

अथ भर्ग इति यो ह व अमुष्मिन्नादित्ये निहितस्तारकोऽक्षिणि वैष भर्गाख्यः। भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गः। भर्जयतीति वैष भर्ग इति रूद्रो ब्रह्मवादिनः। अथ भ' इति भासयति माँल्लोकान् इति रन्जयतीमानि भूतानि ग् इति गच्छत्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद्भूरगत्वाद्भुर्गः।

अब भर्ग का अर्थ स्पष्ट किया जा रहा है- भर्ग उसे कहते हैं, जो इस आदित्य में निहित है तथा आँख में तारक तथा पुतली की तरह है। भर्ग की व्युत्पत्ति है- भाभिः गतिः अस्य - अर्थात् प्रकाश के माध्यम से जिसकी गतिविधियाँ होती हैं। ब्रह्मवादियों का कथन है कि रूद्र का नाम भी भर्ग है, क्योंकि वे भर्जन करते हैं अर्थात् भूतते हैं। अब भर्ग गत पदांशों की व्याख्या पृथक्-पृथक् की जा रही है-

भ वह तत्व है जो इन लोकों को प्रकाशित करता है।

र वह तत्व है जो इन लोकों को रंग देता है।

ग से तात्पर्य है कि प्रजाएँ इसमें जाती हैं और इससे बाहर आती हैं। भर्ग पद इन्हीं भ, र और ग इन अंशों से मिलकर बना है

5.2 आत्मयज्ञ की समालोचना

मैत्रायणी आरण्यक के उपर्युक्त अनुच्छेद में एक विशेष प्रकार के आत्मयज्ञ का निरूपण है। यज्ञविज्ञान के विकास के सन्दर्भ में इस विवरण का विशेष महत्व है।

विश्व अर्थात् अनेक रूपोंवाले, हरिण सूर्यस्वरूप, जातवेदस अग्नि, परायण, परमधाम, ज्योतिष्मान, अकेले और तपते हुए इस आत्मतत्त्व के ज्ञान के लिए साधक को सर्वात्मना प्रयत्न करना चाहिए। यह जो हजारों किरणों से युक्त और सैकड़ों प्रकार से विद्यमान सूर्य उदित हो रहा है, वह वास्तव में लोगों का प्राण ही है।

इस प्रकार यह आत्मा ही आत्मा और परमात्मा के क्रम से उभयात्मक है ऐसे ज्ञान से युक्त साधक आत्मा में ही ध्यान करता है, आत्मा में ही यज्ञानुष्ठान करता है। यही ध्यान है इस प्रकार के प्रकृष्टयोग में स्थित मन की तत्त्वज्ञाताओं ने प्रशंसा की है। मन की शुद्धि उच्छिष्ट से प्रभावित हो जाती है, इस कारण उसे पवित्र करना चाहिए। साधक मंत्र पढ़ता है--मेरा जो मन उच्छिष्ट हो गया है, अथवा उच्छिष्ट वस्तु के प्रभाव से प्रभावित हो गया है, पापग्रस्त हो गया है, अथवा जन्म-मरणजन्य आशौच से अशुद्ध है, उसे वसुधारा अग्नि, सवितृदेव और उनकी किरणें पवित्र करें।

मैंने जो अशुद्ध अन्न खाया हो, अन्य जो दुष्कर्म किया हो, उस सब दोष का निराकरण कर देवगण मुझे पवित्र करें। जल से पहले ही शुद्ध किये गए अधोवस्त्रों को पहने।

निम्नलिखित पांच मंत्र पढ़कर -- प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पांच के लिए होम करें--प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा।

वाणी को नियंत्रित करके अर्थात् मौन व्रत का पालन करते हुए होमावशिष्ट खाद्यपदार्थों को खाये। इसके बाद धुले हुए ऊपर के वस्त्र पहनें। आचमन करके दो मंत्रों--'आत्मेज्यानः प्राणः' प्राण आत्मा में यज्ञानुष्ठानरत है तथा 'अग्निर्विश्वोऽसि अग्नि सब कुछ है, वह तुम हो से आत्मा का ध्यान करें।

जो प्राण है, अग्नि है, परमात्मा है, पञ्चवायु से युक्त है, सब में आश्रित है, विश्व का भोक्ता है, वह प्रसन्न होकर सबको प्रसन्न करे। तुम विश्व हो, वैश्वानर हो, यह उत्पन्न होता हुआ विश्व तुम्हारे द्वारा ही धारण किया जाता है। समस्त आहुतियाँ तुम में वहाँ प्रवेश करें, जहाँ समस्त प्रजा है,

विश्व के अमृततत्त्व तुम ही हो! इस प्रकार की विधि से अन्नग्रहण करने वाला साधक पुनः अन्नत्व को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् वह स्वयं किसी का भक्ष नहीं बनता।

इसके बाद अन्य तत्त्वों का विचारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह आत्मयज्ञ का बाद में होने वाला विकार अर्थात् परिणाम है, जैसे अन्न और अन्न को खानेवाला। इसकी स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार है--पुरुष ही चेता, प्रधान और अंतःस्थ है। वही भोक्ता अर्थात् प्रकृतिजन्य अन्न को ग्रहण करने वाला है। यह भूतात्मा ही उसका अन्न है। इसका कर्ता प्रधान अर्थात् प्रकृति है, इसलिए तीन गुणों का समूह भोज्य है। भोक्ता पुरुष अंतःस्थ है। यहाँ दृष्ट नामक प्रत्यय अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि पशुगण बीज से उत्पन्न होते हैं, इसलिए बीज भोज्य है।

इसी से प्रधान के बीज होने की व्याख्या हो गई। इसलिए भोक्ता पुरुष है। प्रकृति भोग्या है। प्रकृति पर स्थिति पुरुष उसका भोग करने वाला है। तीन गुणों के भेदों का परिणाम होने के कारण प्रकृतिजन्य अन्न महत तत्त्व बुद्धि से लेकर विशेषतत्त्व तक लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक हेतु है। ये चेतन के अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं। इसी से इन्द्रियों की प्रवृत्ति के चौदह मार्गों दस बाह्योन्द्रियों की प्रवृत्ति के मार्गों तथा चार अंतःकरण की प्रवृत्ति के मार्गों को मिलाकर की व्याख्या व्याख्या हो गई। त्रिगुणात्मक होने के कारण सुख, दुःख और मोहसंज्ञक है, अतः यह अन्न अर्थात् भोग्य है। बीज जब तक उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह आस्वाद के योग्य नहीं होता। उसका भी इसी प्रकार तीन अवस्थाओं में अन्नत्व होता है। वे हैं--बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था वे अन्न इसप्रकार है। क्योंकि उनका परिगमन परिवर्तन होता रहता है। प्रधान अर्थात् कारणरूपा प्रकृति की उपलब्धि कार्य रूप में प्रकट होने पर किस प्रकार होती है। यह यह आगे बतला रहे हैं।

प्रकृति के अभिव्यक्त कार्यों में आस्वाद का ग्रहण करने में बुद्धि इत्यादि करण प्रवृत्त होते हैं अर्थात् बुद्धि इत्यादि ही प्रधान के कार्यों को ग्रहण करती है। इन में से बुद्धि अध्यवसाय अर्थात्

निश्चयात्मिका है। मन अंतःकरण है, जो संकल्परूप व्यापार से संपन्न है, मन की ही अहंकारात्मिका वृत्ति अभिमान है। ये संकल्प, अध्यवसाय और अभिमान शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध संज्ञक इन्द्रियों के विषयों को पांच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ--इन सभी इन्द्रियों के विषयों को तथा प्राणों के प्राणन और अपानादि विषयों को ये ग्रहण कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार, अभिव्यक्त विषय भोग्यता के सदृश ही अनभिव्यक्त विषयों की भोग्यता का भी अनुमान कर ले न चाहिए। इन व्यक्त और अव्यक्त विषयों का भोक्ता निर्गुण अर्थात् निर्विकार आत्मा है। भोक्ता होने के कारण उसका चैतन्य स्वरूप प्रसिद्ध ही है क्योंकि अचेतन तो भोग कर नहीं सकता। जैसे देवों के मध्य अग्नि अन्न का भक्षक माना जाता है। सोम अन्न स्वरूप है, क्योंकि जगत अग्नीषोमात्मक है। इसलिए साधक को यह समझना चाहिए कि अग्नि के द्वारा ही अन्न को ग्रहण किया जाता है, मेरे द्वारा नहीं--इससे वह अन्नदोष से लिप्त नहीं होता। 'सोमसंज्ञक यह भूतात्मा अग्निसंज्ञक अव्यक्तमुख है'--इस वचन के अनुसार पुरुष ही अव्यक्त अर्थात् प्रकृति के माध्यम से तीन गुणों के समूह का भोक्ता है। जो इस प्रकार से समझता है, वह संन्यासी, योगी और आत्मयज्ञ का अनुष्ठाता है और जिस प्रकार सूने अर्थात् पुरुषरहित घर में प्रवृष्ट हुई कामातुर स्त्रियों का स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार संन्यासी, योगी और आत्मयज्ञ का अनुष्ठाता साधक इन्द्रियों के विषयों के विद्यमान रहने पर भी उनके स्पर्श से बचा रहता है।

उपयुक्त अनुच्छेद में सांख्यशास्त्र की प्रक्रिया के अनुरूप जागतिक तत्त्वों के साथ आत्मा के सम्बन्ध की विवेचना की गई है। अन्तर केवल इतना है कि सांख्य में वस्तुतः भोक्ता भी प्रकृति ही है, पुरुष नहीं है। अतः वास्तव में वहाँ बन्धन और मोक्ष प्रकृति का ही होता है। यहाँ भोक्ता तो

पुरुष को माना गया है; क्योंकि अचेतन होने के कारण प्रकृति स्वयं अपने विषयों का भोग कर नहीं सकती। लेकिन भोक्ता होने पर भी चूँकि वह प्रकृति के माध्यम से भोग में प्रवृत्त होता है, इस लिए भोग के दोषों से वह बचा रहता है। भगवद्गीता में भी यही कहा गया है कि प्रकृति में स्थिर होकर ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का सङ्ग ही जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है—पुरुष।

5.3 अन्न का स्वरूप

अन्न की शब्द की व्युत्पत्ति – अद्यते – जो प्राणियों द्वारा खाया जाता है और जो स्वयं भी प्राणियों को अति- खाता है।, इसलिए सम्पूर्ण प्राणियों का भोज्य और उनका भोक्ता होने कारण भी वह 'अन्न' कहा जाता है। यह जो ओदनादि रूप अन्न है, वह आत्मा का उत्कृष्ट आकार है, क्यों की प्राण अन्नमय है अन्न से ही जीवन है। इसी को अन्वय व्यतिरेक पद्धति के माध्यम से बतलाया जा रहा है। और यदि यह अन्न-ग्रहण न करता होता, तो यह मनन, श्रवण, स्पर्श, दर्शन, सम्भाषण, गन्ध-ग्रहण तथा रसास्वादन करने में समर्थ न होता। केवल इतना ही नहीं, यह जीवित रहने में समर्थ नहीं होता इसे प्राणों का परित्याग करना पड़ता चूँकि यह अन्न भक्षण करता है, इसलिए यह प्राण बल से समृद्ध होकर मनन करता है, श्रवण करता है, स्पर्श करता है, सम्भाषण करता है, रसास्वादन करता है और गंध का आघ्राण कर लेता है। इसी प्रकार से कहा गया है पृथ्वी पर रहने वाले समस्त सृष्टियाँ अन्न से ही उत्पन्न होती है, अन्न के द्वारा ही ये प्राण धारण करती है और यहाँ से गमन भी अन्न के कारण ही करती है।

और अन्यत्र भी कहा गया है ये सभी प्राणी दिन प्रतिदिन अन्न ग्रहण करते हुए ही इधर उधर परिभ्रमण करते रहते हैं। सूर्य अपनी किरणों से अन्न ग्रहण करता है। इसी कारण वह तपता है। ये प्राण अन्न से अभिषिक्त होकर परिपक्व होते हैं। अर्थात् अपना-अपना कार्य करते हैं। अन्न के बल से ही अग्नि प्रज्वलित होती है ब्रह्मा ने अन्न की कामना से इस जगत रचना की है। इस प्रकार की महिमा के कारण अन्न की उपासना आत्मा के रूप में करनी चाहिए। इसी प्रकार से कहा गया है-
अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते।

अद्यतेऽस्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते।²¹

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही बढ़ते हैं, अन्न प्राणियों के द्वारा खाया जाता है तथा अन्न स्वयं प्राणियों का भक्षण करता है। इसी कारण उसे अन्न कहा जाता है।

और अन्यत्र भी कहा गया है--यह जो अन्न है, वह भगवान् विष्णु का विश्वम्भर नामक शरीर है। प्राण अन्न का ही रस है। मन प्राण का रस है। विज्ञान मन का रस है। विज्ञान का रस आनन्द है। जो इस रहस्य को जनता है, वह अन्नवान, प्राणवान, मनस्वान, विज्ञानवान और आनन्दमय हो जाता है। जितने प्राणी यहाँ अन्न खाते हैं, उतना ही अन्तःस्थ पुरुष अन्नग्रहण करता है। अर्थात् प्राणियों के रूप में स्वयं अन्तःकरण में स्थित परमात्मा ही अन्नसेवन करता है। इसी क्रम में यह भी कहा गया है—

अन्नमेव विजरन्नमन्नं संवननं स्मृतम्।

अन्नं पशूनां प्राणोऽन्नं ज्येष्ठमन्नं भिषक्स्मृतम्।²²

²¹ मैत्रा.आ. ६.१२

²² मैत्रा.आ. ६.१३

अन्न वृद्धावस्था का निराकरण करता है अतएव वह शक्तिशाली है। वह सबके द्वारा सेवनीय है। अन्न सभी प्राणियों का प्राण तत्त्व है, अन्न पहले उत्पन्न होने के कारण ज्येष्ठ अर्थात् सर्वोपरी है। अन्न को तो सबसे बड़ा वैद्य अथवा सबसे बड़ी औषधि कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है-

अन्नं वाव बलाद् भूयस्ताद यद्यपि दशरात्रीर्नाश्रीयाद् यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोता।²³

अर्थात् अन्न से ही बल उत्कृष्ट है, क्योंकि यह बल का कारण है। अन्न बल का कारण किस प्रकार है? यह बतलाते हैं- क्योंकि अन्न बल का कारण है इसलिए यदि कोई पुरुष देर रात तक भोजन न करे तो वह अन्न के उपयोग से होने वाले बल के क्षीण हो जाने के कारण मर जाता है; यदि न मरे -जीवित रह जाए, क्योंकि महीने भर न खानेवाले भी जीवित देखे जाते हैं, तो ऐसी अवस्था में जीवित रहने पर वह गुरु का भी दर्शन न करनेवाला हो जाता है तथा उनसे श्रवण करनेवाला भी नहीं रहता इत्यादि सब बात पहले से विपरीत हो जाती है। फिर भी बहुत दिन भोजन न करने पर दर्शनादि क्रियाओं में असमर्थ रहने अपर अन्न का आयी आगमन नाम आय अर्थात् अन्नकी प्राप्ति है, वह जिसे होती है उसे अन्न का आयी कहते हैं। अन्न का उपयोग करने पर ही दर्शनादि की शक्ति देखी जाती है- उसकी अप्राप्ति होने पर नहीं। अतः तुम अन्न की उपासना करो।

ऐतरेयोपनिषत् में अन्न की उत्पत्ति के विषय में कहा है-

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति।²⁴

अर्थात् उस परमात्मा ने ईक्षण किया कि मैंने इन लोक और लोकपालों की रचना कर दी और इन्हें क्षुधा- पिपासा से संयुक्त भी कर दिया। अतः अन्न के बिना इनकी स्थिति नहीं हो सकती; इसलिए इन लोकपालों के लिए मैं अन्न रचूँ। अन्न रचने कि इच्छावाले उस ईश्वर ने उन

²³छा.उप.७.९.१

²⁴ ऐत.उप.१.३.१

जलों को ही उद्देश्य करके तप किया। उन उपदन भुत भी तप्त जलों से ही धारण करने में समर्थ चराचरभूत घनरूप मूर्ति उत्पन्न हुई वह मूर्तिरूप अन्न ही है। अपान द्वारा अन्न ग्रहण – उस परमात्मा ने उस अन्न को प्राण से, नेत्र से, श्रोत्र से, त्वचा से, मन से, शिश्न से एवं भिन्न –भिन्न इन्द्रियों के व्यापार ग्रहण करने में असमर्थ होकर अन्त में उसे मुख के छिद्र द्वारा अपानवायु से ग्रहण करने की इच्छा की। तब उसे ग्रहण कर लिया; अर्थात् इसप्रकार इस अन्न को भक्षण कर लिया। उसी कारण से वह यह अपानवायु अन्न का ग्रहण करनेवाला है। जो वायु अन्नायु-अन्नरूप बन्धनवाला अर्थात् अन्नरूप जीवनवाला प्रसिद्ध है वह यह अपान वायु ही है।

आत्मकल्याण के लिए अन्न-शुद्धि का होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि इसी पर ग्यारहवीं: इन्द्र मन की शुद्धि भी निर्भर करती है। अध्यात्म विद्या में पारंगत ऋषियों ने खाद्यपदार्थों में विद्यमान सात्विक, राजसिक और तामसिक गुणों का गम्भीरता से अध्ययन किया था। औषध जिस प्रकार शरीर को शान्ति प्रदान करती है, उसी प्रकार अन्नरूपी औषधी से सांसारिक प्राणियों का क्षुधाजन्य संताप दूर होता है। जो साधक अन्न की ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं, उन्हें कभी भी अन्न का अभाव नहीं होता है।

छान्दोग्योपनिषद् में अन्न के विषय में कहा है-

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।²⁵

अर्थात् खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है अर्थात् जठराग्नि द्वारा पचाये जाने पर वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है। तीन भागों में विभक्त होते हुए उस अन्न का अन्न का जो स्थविष्ठ स्थूलतम धातु- सबसे स्थूल वस्तु यानी विभक्त हुए अन्न का जो स्थूल अंश होता है, वह मल हो जाता है। तथा जो अन्न का मध्यम अंश होता है वह रसादि क्रम से परिणत होकर मांस हो जाता है और जो अणिष्ठ अणुतम धातु होता है वह ऊपर की ओर हृदय में पहुँचकर हिता नाम

²⁵ छा.उप. ६.५.१

की सूक्ष्म नाडी में प्रवेश कर वाक् आदि इन्द्रियसमूह की स्थिति उत्पन्न करता हुआ मन हो जाता है। वह मनरूप से विपरिणाम होकर विकार को प्राप्त होता हुआ मन का उपचय करता है।

तैत्तिरीयोपनिषत् में अन्न की निन्दा न करना रूप व्रत वर्णन किया है।—

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्।²⁶

अन्न की स्तुति के लिए और अन्न की स्तुति पात्रता ब्रह्मोपलब्धि का साधन होने के कारण है। प्राण ही अन्न है, क्योंकि प्राण शरीर के भीतर रहनेवाला है। जो जिसके भीतर स्थित रहता है वह उसका अन्न हुआ करता है। अन्न शरीर में स्थित है, इसलिए प्राण शरीर में स्थित है, इसलिए प्राण अन्न है और शरीर अन्नाद है; कैसे?— प्राण में शरीर स्थित है, क्योंकि शरीर की स्थिति प्राण के ही कारण है। अतः ये दोनों शरीर और प्राण दोनों ही अन्न और अन्नाद हैं। वह जो इस प्रकार अन्नको अन्न में स्थित जानता है, अन्न और अन्नाद रूप से ही स्थित होता है तथा अन्नवान और अन्नाद होता है।

अन्न त्याग न करना रूप व्रत — अन्न त्याग न करे। यह व्रत है। जल ही अन्न है। ज्योति आनन्द है। जल में ज्योति प्रतिष्ठित है , और ज्योति में जल स्थित है, इसप्रकार ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित है। जो इसप्रकार अन्न को अन्न में स्थित जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और आनन्द होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है तथा कीर्ति के कारण भी महान् होता है।

5.4 काल

इस सब जगत की उत्पत्ति अन्न से हुई है अर्थात् अन्न सब का कारण है। किन्तु अन्न का कारण काल है अर्थात् काल से अन्न की उत्पत्ति हुई है। काल की उत्पत्ति सूर्य से हुई है। उसी का यह रूप है, जो निमेष प्रभृति काल के परिमाण से उत्पन्न बारह मासों वाला संवत्सर है। इस

²⁶ तै.उप. ३.७.१

संवत्सर का आधा भाग अर्थात् उत्तरायण अग्निदेव से सम्बद्ध है क्योंकि यह उष्णताप्रधान है और शेष आधा भाग अर्थात् दक्षिणायन वरुणदेव से सम्बद्ध है क्योंकि वह वर्षा इत्यादि के रूप में जल प्रधान है। मघा नक्षत्र से प्रारम्भ कर के आधे श्रविष्ठा नक्षत्र के भोगकाल तक का समय अग्निदेव का माना जाता है। क्योंकि उस समय शीत से पीड़ित प्राणी अग्नि की उपासना करते हैं। तथा सर्पों से सम्बद्ध आश्लेषा नक्षत्र से प्रारम्भ करके श्रविष्ठा नक्षत्र के उत्तरार्ध तक, जब तक सूर्य उर्ध्व मार्ग से सञ्चरण करता है, सोमदेवता से सम्बद्ध है; क्योंकि उस समय गर्मी से पीडीत प्राणी चंद्रदेव की उपासना करते हैं। इनमें से प्रत्येक का अपने नवांश कर्म से सञ्चार होता रहता है। तात्पर्य यह है की सत्ताईस नक्षत्रों का अग्नि, वरुण और चन्द्रमा के क्रम से विभाजन करने पर प्रत्येक के अधिकार में नौ-नौ नक्षत्र आते हैं। नौ नक्षत्रों का समूह ही 'नवांश' नाम से निर्दिष्ट है।

(२) ऊपर काल का ही विवरण है, वह सूर्य के अनुसार है। चन्द्रमा का कर्म इस से भिन्न है। वह एक राशि में केवल सवा दो दिन ही रहता है।

इसकी दूसरी व्याख्या यह हो सकती है, और जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है 'नवांश' का अभिप्राय नक्षत्रों के नौ पाद मान लिया जाय। एक राशि में सामान्यतः सवा दो नक्षत्र होते हैं-- इस प्रकार नक्षत्रों के नौपादों पर सूर्य एक मास रहता है। सूक्ष्म होने के कारण काल का यही मान उत्कृष्ट है। इसी से काल की गणना होती है। प्रमाण के बिना प्रमेय की उपलब्धि नहीं होती। अपना भलीभाँति ज्ञान करने के लिए प्रमेय अर्थात् ज्ञेय भी पृथक् रूप से प्रमाण श्रेणी में उसी प्रकार से आ जाता है। जैसे दीप का प्रकाश दूसरी वस्तुओं का स्वरूप दिखाने के साथ अपना स्वरूप भी दिखा देता है। काल की जितनी कलाएँ हैं, उसमें सब में यह काल सञ्चरण करता है। इसलिए जो उपासक काल की ब्रह्मरूप में उपासना करता है, काल उससे दूर हट जाता है। इसी प्रकार से कहा गया है --

प्राणी काल से निकलते हैं और काल से ही सम्पुष्ट होते हैं। अन्त में काल में ही अस्त हो जाते हैं। इस प्रकार काल मूर्त तथा अमूर्त स्वरूपों वाला है। तात्पर्य यह है कि काल के दो रूप हैं। एक है मूर्तिमान और अमूर्त, आदित्यस्वरूप में वह मूर्तिमान है और संवत्सर रूप में वह अमूर्तिमान है। ब्रह्म के दो रूप हैं- काल और अकाल। वह जो आदित्य से पहले का रूप है, वह अकाल है तथा कलारहित है और जो आदित्य से प्रवर्तित है, वह सकाल अर्थात् कलासहित है। संवत्सर इस कलासहित काल का स्वरूप है। संवत्सर से ही ये प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। संवत्सर के द्वारा उत्पन्न होने के बाद ही यहाँ वे संवर्धन पाती हैं और अंत में संवत्सर में ही अस्त हो जाती हैं। इसलिए संवत्सर ही प्रजापति, काल, अन्न, ब्रह्मा का नीड अर्थात् आलम्बन और आत्मा है। इसी प्रकार से कहा है - सभी प्राणियों को काल अकालात्मक परमात्मा के अधिष्ठान में पचाता अर्थात् परिवर्तित करता रहता है। अरे ! जिसमें काल भी पचता है, उसे जो जानता है, वही वेद का यथार्थ ज्ञाता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में महर्षि याग्यवल्क्य ने गार्गी के प्रश्न के उत्तर में भी यही कहा है कि अविनाशी परमात्मा के ही शासन में निमेष से प्रारम्भ कर संवत्सरपर्यन्त काल संस्थित है।²⁷

बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने गार्गी के प्रश्न के उत्तर में भी यही कहा है कि हे गार्गी ! द्युलोक और पृथ्वी सावयव होने के कारण फूटने के स्वभाव वाले, भारी होने के कारण गिरने के स्वभाव वाले, संयुक्त होने के कारण वियुक्त होने के स्वाभाव वाले और चेतनावान अभिमानी देवता से अधिष्ठित होने के कारण स्वतंत्र होने पर भी इस अक्षर के प्रशासन में विदूत होकर स्थित है। यह अक्षर ही समस्त व्यवसायों का सेतु समस्त मर्यादों का

²⁷ बृ.उप.५.७

विधारक है अतः द्युलोक और पृथ्वी इस के प्रशासन का अतिक्रमण नहीं कर सकते; इसके इस अक्षर का अस्तित्व सिद्ध होता है; द्युलोक और पृथ्वी इसके द्वारा नियमित होकर विद्यमान है। यह इस की सत्ता का अव्यभिचारी लिङ्ग है; क्योंकि किसी चेतनावान् असंसारी शासक के बिना ऐसा होना सम्भव नहीं; जैसा की "जिसके द्वारा उम्र और पृथ्वी दृढ़ की गयी है" इत्यादी इस प्रकार सिद्ध होता है।

इस अक्षर के प्रशासन में ही निमेष, मुहूर्त इत्यादि काल के अवयव उत्पन्न होने वाले समस्त अतीत और अनागत पदार्थों की गणना करने वाले है: जिस प्रकार लोक में स्वामी के द्वारा नियुक्त किया हुआ गणक (मुनीम) प्रमादशून्य रहकर समाप्त आय और व्यय की गणना करता है, उसी प्रकार इन कालावयवों का नियन्ता भी इनका प्रभुरूप है।

सिन्धुराज अर्थात् नदियों के स्वामी समुद्र की भाँती यह मूर्तिमान काल प्रजाओं के लिए दुस्तर है। इसका नाम सविता, जो उस काल में स्थित है। इसे सविता इसलिए कहा जाता है की इसी से चन्द्रमा, नक्षत्र, गृह, संवस्तर प्रभुति उत्पन्न होते है और इनसे यह सब जगत् उत्पन्न है। यहाँ लोक में जो कुछ शुभ और अशुभ दिखाई देता है, वहीं उन्हीं से होता है अर्थात् उसके निमित्त ये नक्षत्र और गृह इत्यादि है। चूँकि जगत् की स्थिति आदित्य के कारण है, इसलिए ब्रह्मा आदित्यस्वरूप है। इस रहस्य को जानने के अनन्तर काल संज्ञक आदित्य की उपासना करनी चाहिए। कुछ मनीषियों का मत है की आदित्य स्वयं ब्रह्मा है। इस सन्दर्भ में इस प्रकार कहा है

यह जो सूर्य-मण्डल में प्रकाशित हो रहा है, वह होता होम करनेवाला अर्थात् यजमान, भोक्ता, हविष, मन्त्र, यज्ञ, विष्णु, प्रजापति, प्रभु और सब कुछ।

सृष्टि से पहले जब तक काल, सूर्य, अग्नि, इत्यादि का आविर्भाव नहीं हुआ था, उस समय केवल यह ब्रह्मा ही था। तब न सजातीय और विजातीय वस्तुओं के मध्य कोई अन्तर था और न कोई विभाजन ही हुआ था। वह पूर्व, पश्चिम उत्तर तथा दक्षिण। इन सभी दिशाओं के अनुसार तथा ऊपर और नीचे सर्वत्र अनन्त था, अर्थात् उसका न कोई ओर था न छोर। उस समय प्राची इत्यादि दिशाओं की रचना नहीं हुई थी और ऊपर- नीचे तथा इधर किसी भी ओर से परमात्मा का चूँकि अनुमान नहीं हो पाता, इस कारण यह अपरिमित, अजन्मा, अनवलम्बित था, तर्क और विचार से परे प्रतीत होता है। यह आकाश स्वरूप अर्थात् आकाश के समान असङ्ग स्वरूप वाला है। जब सम्पूर्ण जगत् प्रलय में निमग्न हो जाता है, उस समय यह अकेला ही जागता रहता है। इस प्रकार आकाशतत्त्व से लेकर सम्पूर्ण जगत् को यह परमात्मा चेतामात्र रूप से प्रबोधित करता रहता है। इस परमात्मा के द्वारा ही जगत् ध्यानमात्र से उत्पन्न होता है। इसी में अन्त में विलीन हो जाता है। आदित्य में जो तपता रहता है, वह इसी का प्रकाशमय रूप है। और धूमरहित अग्नि में जो विचित्र प्रकार की ज्योति रहती है। वह भी वही है। प्राणियों के उदर में स्थित होकर यह अन्न का परिपाक करता रहता है। इसी प्रकार से कहा है- यह जो अग्नि में है, यह जो हृदय में है और यह जो आदित्य में है, वह यह एक ही है। जो इसे जान लेता है, वह इस अनुभूति तक पहुँच जाता है कि परमात्मा एक है।

5.5 षडङ्गयोग विवेचन

दर्शन और आध्यात्मिकता के अर्थ में योग वैदिक धर्म में प्राप्त होता है। आध्यात्मिक योग विशुद्ध रूप से वैदिक है। जिसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥²⁸

²⁸ ऋ. ५. ८१. १

जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें और जो लोग ईश्वर के उपासक हैं अर्थात् बड़े बड़े बुद्धिमान् उपासनायोग के ग्रहण करने वाले हैं, वे सबको जानने वाला सबसे बड़ा और जो सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उसके बीच में अपने मन को स्थित करते हैं। अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी सदा परमेश्वर में ही स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर सब जगत को धारण और विधान करता है, जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है उस देव अर्थात् सब जगत के प्रकाश सब की रचना करने वाले परमेश्वर की हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें।

इसी प्रकार ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में योग का उल्लेख प्राप्त होता है।

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।

सखाय इद्रमूतये।²⁹

अर्थात् योगाभ्यासी जन जीवन के प्रत्येक संघर्ष में बारम्बार ऐश्वर्यरूपी इन्द्र को अपनी रक्षा के लिए पुकारते हैं।

मैत्रायणी आरण्यक में योग-साधना का जो स्वरूप मिलता है, वह गीतोक्त परम्परा के अनुरूप प्रतीत होता है। गीता में कहा गया है कि वास्तव में योग की परम्परा विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु के क्रम से प्रवर्तित हुई थी, जो बाद में अनेक राजर्षियों को मिली, लेकिन आगे वह छिन्न हो गई।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

स कालेनेह महता नष्टो योगः परन्तप ॥³⁰

²⁹ ऋग्वेद १.३०.७

मैत्रायणीय आरण्यक के तत्व जिज्ञासु बृहद्रथ भी ऐश्वराक ही है। योगाभ्यास के अन्य विधानों में भी अद्भुत साम्य है। इसलिए यह आरण्यक निश्चित ही सूत्रकाल से पहले का है।

मैत्रायणीय आरण्यक में प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि इन छह अङ्गों से युक्त योगानुष्ठान पद्धति का निरूपण किया गया है।

योग

“योगः समाधिः” “युज् समाधौ” धातु से घञ् प्रत्यय करके योग शब्द निष्पन्न होता है। योग शब्द ‘योग’ नाम जोड़ने के कारण पडा, क्योंकि साधक प्राण, ओङ्कार और अनेकरूपात्मक समस्त विश्व को एक साथ जोड़ता है तथा ये सभी उनके लिए अपने को जोड़ते हैं। इससे प्राण, मन और इन्द्रियों की एकता होती है तथा समस्त हानिकारक भावों का तिरोधान हो जाता है।

योग के माध्यम से न केवल शरीरशुद्धि ही अपितु अन्तःकरण शुद्धि भी कर सकते हैं। जोकि वही सर्वोत्तम और परमेश्वर प्राप्ति का साधन है। मनुजी ने मनुस्मृति में कहा है –

अङ्घ्रिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥³¹

अर्थात् शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। पहले बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि और राग-द्वेष आदि के त्याग से भीतर की शुद्धि कर लेनी चाहिए। परन्तु शरीर शुद्धि की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि सबको अवश्य करनी चाहिए। जोकि योग का प्रमुख कार्य है। गीता में कहा गया है कि योग बल के द्वारा ही परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।

³⁰ गीता ४.१, २

³¹ मनु.अ.५.१०९

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥³²

अर्थात् योगी पुरुष अन्तकाल में भी योग बल से भृकुटी के मध्यमें प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य रूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त हो जाता है।

चित्त को वश में करने के उपाय के रूप में अङ्गों सहित योग प्रक्रिया का निरूपण मैत्रायणीय आरण्यक में किया गया है।

तथा तत्प्रयोगकल्पः प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं

धारणा तर्कः समाधिः षडङ्ग इत्युच्यते योगः॥³³

चित्त की एकाग्रता हेतु साधना एवं अनुष्ठान-विधि वर्णित है। प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि इन छह अङ्गों से युक्त योग कहलाता है। इस योग का भलोभाँति अभ्यास करने से परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए साधक स्वर्णवर्णवाले, कर्ता, ईश्वर, पुरुष, ब्रह्मा और जगत् की उत्पत्ति के केन्द्र का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह पुण्य और पाप का परित्याग करके परम अविनाशी तत्व में सब कुछ के एक होने अर्थात् अद्वैतभाव की अनुभूति करता है।

जैसे जलते हुए पर्वत पर पशु-पक्षी नहीं ठहरते, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानियों के भीतर दोष भी कभी नहीं ठहरते।

साधारण मनुष्य स्थूल शरीर द्वारा कोई विशेष क्रिया तथा भौतिक जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले आश्चर्यजनक चमत्कार अथवा बाह्य व्यवहार से सम्बन्धित सिद्धि और विभूति आदि को ही योग का गौरव समझते हैं, जबकि योग का वास्तविक स्वरूप अन्तर्मुख होना है।

योग के विषय में श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है-

नात्यश्रतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्चतः।

³² गीता. ८. १०

³³ मैत्रा. आ. ६. १७

न चाति स्वप्रशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ 34

अर्थात् हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिल्कुल खाने वाले का, न बहुत शयन करने वाले स्वभाव का और न सदाजागने वाले का ही सिद्ध होता है।

आगे मैत्रायणीय आरण्यक में वर्णित षड्गों में सर्वप्रथम प्राणायाम के विषय में वर्णन किया जा रहा है। प्राण तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। प्राण का आयाम ही प्राणायाम है हमारे शरीर में जितनी भी चेष्टाएँ होती हैं, उनका प्राण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। प्रतिक्षण जीवन और मृत्यु का जो अटुट सम्बन्ध मनुष्य के साथ है, वह प्राण के संयोग से ही है। हमारे वेद, शास्त्र एवं उपनिषदों में प्राण की विस्तार से व्याख्या की गई है। अथर्ववेद में कहा है- “प्राणापानौ मृत्योर्मा पात स्वाहा” प्राण और अपान ये दोनों मेरी रक्षा करें।

प्राणायाम –

तस्मिन् सति श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः।³⁵

जो वायु बाहर से भीतर जाता है उसको श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उसको प्रश्वास कहते हैं। प्रश्वास को बलपूर्वक नासिका द्वारा बाहर फेककर बाहर ही यथा शक्ति रोकना। प्राणायाम के भेद – बाह्यभ्यन्तरस्तम्भवृतिर्देशकाल संख्याभिःपरिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

प्राणायाम के तीन भेद हैं- बाह्यवृति, आभ्यन्तरवृति और स्तम्भवृति।

प्राणायाम में नासिका से श्वास बाहर फैंक कर उसकी गति रोक दी जाती है अर्थात् सांस न लेना इसको रेचक प्राणायाम कहते हैं।

अभ्यान्तर वृति में बाहर से भीतर सांस खींच कर रोक ली जाती है इसे पूरक प्राणायाम कहते हैं।

³⁴ गीता ६.१६

³⁵ योगदर्शन २.४९

स्तम्भ वृत्ति में न बाहर से भीतर न भीतर से बाहर सांस फैकना किन्तु भीतर को भीतर और बाहर की बाह्य जहां की तहां सांस रोकना इसे कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। यह देश, काल और संख्या क्रम से सूक्ष्म बहुत लम्बा होता है।

चौथा प्राणायाम और भी है – बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।³⁶

बाह्य और भीतर के विषय को लांघने वाला चौथा प्राणायाम है। रेचक प्राणायाम का सम्बन्ध बाहर से है। क्योंकि इसमें प्राणों को बाहर ठहराते हैं। पूरक में भीतर सांस ठहरानी पड़ती है, इसलिए इसका आभ्यन्तर सम्बन्ध है इन दोनों के अभ्यास से कुम्भक प्राणायाम क्रिया होती है इसे सहित कुम्भक भी कहते हैं। इस सहित कुम्भक में रेचक और पूरक की अपेक्षा रहती है जब इसकी शक्ति बढ़ जाती है तो बिना रेचक और पूरक के प्राण ठहराये जा सकते हैं इन दोनों भांति के प्राणायाम को लांघने वाला चौथा कुम्भक कहा जाता है।

चौथे प्राणायाम फल-

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥³⁷

अर्थात् विवेक ज्ञान प्रकाश पर जो अविद्या धन पटल का आवरण आकर योगी को क्लेशित करता है वह प्राणायाम अभ्यास से निरन्तर अभ्यास से वह परदा हट जाता है और विशुद्ध विवेक ज्ञान का सूर्य दैदीप्यमान होने लगता है।

धारणासु च योग्यता मनसः॥ अर्थात् धारणाओं में और मन की योग्यता उद्भूत होती है। जितनी धारणायें हैं इस प्राणायाम के अभ्यास से ही मन उन समस्त धारणाओं के योग्य बन जाता है। जहाँ चाहे वहाँ ध्यान स्थापित कर सकता है इतस्ततः नहीं जाता।

प्रत्याहार –

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥³⁸

³⁶ योगदर्शन. २. ५१

³⁷ वही. २. ५२

अर्थात् निज विषय से असम्बन्धित होने से चित्त के स्वरूप की छाया सा इन्द्रियों का प्रत्याहार है। चित्त के आधीन बाह्येन्द्रिय बाह्य विषयों को ग्रहण करती है यह प्राणायाम अभ्यास से चित्त जब बाहर की ओर से रूक जाता है तो चित्त की भांति इन्द्रियां भी अवरुद्ध हो जाती है अतः इस चित्त की अन्तर्मुख वृत्ति होने से इन्द्रियां बाह्य विषय विमुख होकर चित्त के स्वरूप अनुरूप सा बन जाता है, यही प्रत्याहार है।

प्रत्याहार का फल – ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्॥³⁹

उस प्रत्याहार से परमोत्तम इन्द्रियों की वशवर्तिता। जिज्ञासुओं के अनुभव भेद से कोई शब्दादि विषयों में न फँसना इन्द्रियजय है। किसी के अनुभव में वेदाविरुद्ध विषयों का सेवन और तद्विरुद्ध विषयों अप्रवृत्ति इन्द्रियजय है। चित्त के ही निरोध से सर्व इन्द्रिय वश्यता सम्भव है। यही प्रत्याहार का फल है।

धारणा – देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥⁴⁰

देश में बांधना चित्त की धारणा है। धारणा से चित्त प्राणायाम के योग्य बनता है। योगी बाह्याभ्यन्तर किसी स्थान में चित्त की अचलता से बांधता है। अभ्यन्तर में नाभिचक्र, हृत्पुण्डरीक, मूर्द्धा स्थिति ज्योति में, नाक के अग्र भाग में अथवा जिह्वा के आगे के भाग में टिकाना धारणा है।

ध्यान- तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्॥⁴¹

वहाँ कि जहाँ चित्त को लगाया है उस प्रदेश में वृत्ति की एकाग्रता ध्यान है। जिसमें चित्त को धारण किया गया है। उसी प्रदेश में उस की वृत्ति का एकाग्र होना अर्थात् उसका उत्तरोत्तर उदय होता जाना और अन्य प्रवृत्ति का आना ध्यान है।

³⁸ योगदर्शन. २.५४

³⁹ वहीं. २.५५

⁴⁰ वहीं. ३.१

⁴¹ योगदर्शन. ३.२

तर्क –

तर्क के विषय में मैत्रायणीय आरण्यक में कहा गया है-

मनो ध्येये वस्तुनि तदाकारतया सम्यक्सम्पन्नं न वेति परीक्षणं तर्कः।

ध्यानधारणासामर्थ्यादुपस्थितक्षुद्रसिद्धिनां योगान्तरायत्वोहनं वा तर्कः।⁴²

ध्येय वस्तु में लगा मन उसी आकार को ग्रहण करके भी सम्यक्त्व प्राप्त कर पाया या नहीं इसका आकलन तर्क है। तथा ध्यान धारणा के प्रभाव से उपस्थित क्षुद्र सिद्धियों का अथवा योग साधना के सम्मुख विद्यमान विघ्नबाधों का निराकरण तर्क है।

आचार्य गौतम ने तर्क का लक्षण कहा है -

अविज्ञाततत्त्वैर्ऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ⁴³

जिस अर्थ का तत्व निर्णीत न हो उसके तत्त्वज्ञान के लिए युक्ति पूर्वक किए जानेवाले "ऊह" ज्ञान का नाम है "तर्क" है।

समाधि – तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।⁴⁴

वही ध्यान जिसमें अर्थमात्र भासित होता है। स्वरूप से शून्य सा समाधि है। जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय, ध्याता ध्यान, ध्येय जब एक से भासित हो तो उसे ध्यान कहते हैं वहाँ केवल ध्येय मात्र का लगाव रहता है। और उसका रूप शून्य सा प्रतीत होता है यही समाधि है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से योग किसका सिद्ध होता है इस विषय में कहते हैं-
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥⁴⁵

⁴² मैत्रा.आ.६.१७

⁴³ न्यायदर्शन १.१.४२

⁴⁴ वही.३.३

⁴⁵ गीता ६.१७

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। और कहते हैं - हे अर्जुन तू योगी बन क्योंकि -

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥⁴⁶

अर्थात् योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। इससे हे अर्जुन! तू योगी हो। इसप्रकार आगे भी कहते हैं सम्पूर्ण योनियों में भी जो श्रद्धावान योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

योग नाम की सार्थकता

सोये हुए व्यक्ति के सदृश अपनी इन्द्रियों को भीतर ही भीतर समेट लेनेवाला साधक, परमशुद्ध, बुद्धि से, स्वप्न के सदृश, इन्द्रियों की पराधीनता से मुक्त होकर, इन्द्रियों की गहराई में, प्रणवसंज्ञक अन्तर्यामी प्रणेता को देखता है, जो प्रकाशरूप, निद्रा एवं वृद्धावस्थारहित तथा मृत्यु और शोक से परे है। इस साक्षात्कार के बाद वह साधक स्वयं भी प्रणवसंज्ञक प्रणेता, प्रकाशरूप, निद्रा एवं वृद्धावस्था से रहित तथा मृत्यु एवं शोक से परे हो जाता है। इसी प्रकार से कहा है--

योग को योग इसलिए कहा गया है की उसमें इस पूर्वोक्त प्रकार से साधक प्राण, ओङ्कार और अनेक रूपात्मक समस्त विश्व को एक साथ जोड़ता है अथवा ये सभी उस के लिए अपने को

⁴⁶ वहीं ६.४६

जोड़ते हैं। योग को योग इसलिए कहा जाता है; क्योंकि इसमें प्राण, मन और इन्द्रियों की एकता हो जाती है और अन्य समस्त हानिकारक मनो-भावों का परित्याग हो जाता है।

मछुवारे की उपमा

जैसे मछेरा जल में रहनेवाले मछली इत्यादि जीवों को जाल के द्वारा पकड़कर पेट की आग में उनसे होम करता है अर्थात् उन्हें खा लेता है, इसी प्रकार साधक इन प्राणों को ओङ्कार साधना के माध्यम से उपर उठाकर आत्मा अथवा ब्रह्मरूप निर्दोष अग्नि में होम करता है। इसलिए वह साधक तपी हुई पृथ्वी-यज्ञ-वेदी की तरह हो जाता है। और जैसे तपी हुई भूमि-वेदी पर डाला गया घी -तृणों और लकड़ियों के साथ आग के संस्पर्श से जलने लगता है, इसी प्रकार यह प्राण नामक तत्त्व अर्थात् आत्मा प्राण के संस्पर्श से प्रदीप्त हो उठता है और यह जो प्रज्वलित होता है, वह ब्रह्म का रूप है। यही विष्णु का सर्वोच्च स्थान है। यही रुद्र का रौद्रस्वरूप है। यही अपने को असंख्य रूपों में विभाजित करके इन सभी लोकों को व्याप्त कर लेता है। इसी प्रकार से कहा गया है--

जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ छिटकती हैं तथा सूर्य से किरणें निकलती हैं उसी प्रकार प्राण इत्यादि भी उसी ब्रह्म से बार-बार क्रमशः ऊपर आते हैं।

आत्मनिष्ठा का उपदेश

और अन्यत्र भी कहा गया है। यह जो शरीर की ऊष्मा गर्मी है, वह उसी अमृत आत्म अशरीरी परब्रह्म का ही तेज है। यह शरीर उस तेज का घृत है। यह तेज प्रकट होकर हृदयाकाश में निहित रहता है। एकाग्रता के अभ्यास से साधक हृदयाकाश को परिचालित करते हैं, जिससे वह ज्योतिर्मय-सा हो उठता है और साधक शीघ्र ही उस भाव अर्थात् गाड़ा गया लोहे का टुकड़ा शीघ्र ही मिट्टी में मिल जाता है और फिर लुहार आग में उसे नहीं तपाते अर्थात् वह उनके काम

का नहीं रह जाता, इसी प्रकार इसके सहारे साधक के चित्त में स्थित वासनाएँ पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार से कहा गया है--

हृदयाकाश में स्थित कोष आनन्दमय परमधाम है, वह हमारा अपना आश्रय है, वही हमारी योग-साधना का लक्ष्य है। वह अग्नि और सूर्य के तेज के सदृश प्रकाशमय है।

ब्रह्मतेज के उपलम्भ में योग विशेष का उपदेश

और अन्यत्र भी कहा गया है-महाभूतों से निर्मित देह इन्द्रियों और उनके विषयों का अतिक्रमण करके अर्थात् उन्हें पार करके साधक संन्यासरूपी प्रत्यञ्चा वाले और धैर्यरूपी दण्ड वाले धनुष को लेकर, उस पर निरभिमानितारूपी बाण को चढ़ाकर, ब्रह्म की प्राप्ति में बाधक बने हुए ब्रह्मद्वार के प्रथम द्वारपाल को मारकर आगे बढ़े। ऐसा न करने पर वह बाधक द्वारपाल सम्मोहन के मुकुट को शिर पर धारण किये, तृष्णा एवं ईर्ष्या के कुण्डल-कानों में पहने हुए, आलस्य, निद्रा एवं पाप -इन तीनों से युक्त होकर, अभिमान भरी आँखों से देखते हुए, क्रोधरूपी प्रत्यञ्चा तथा लोभरूपी दण्ड से युक्त धनुष को लेकर और उस पर अपनी कामनाओं के बाण चढ़ाकर प्राणियों का संहार करने लगता है। अतः उसे मार करके साधक ओङ्काररूपी नौका की सहायता से भीतर हृदयाकाश रूपी समुद्र को पार करके, अन्तराकाशगत ब्रह्म के प्रकट होने पर, धीरे से ब्रह्मधाम में उसी प्रकार प्रवेश करे। जैसे - स्वर्ण, रजतादि धातुओं का इच्छुक व्यक्ति खोदी गई खान में प्रवेश करता है। इसके अनन्तर, अपने गुरु के द्वारा बतलाये गये शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार चार-जालों [-अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोशों] से युक्त ब्रह्मकोश पर तब तक आघात करे।

जब तक वह अन्तिम अर्थात् आनन्दमय कोश तक नहीं पहुँच जाता, जिसमें ब्रह्म के साथ एकता की अनुभूति होती है। इस स्तर पर पहुँचकर यहाँ से वह साधक शुद्ध, पवित्र, शून्य निर्विचार ,

शान्त, अप्राण, निरात्मा, अनन्त, अक्षय, स्थिर, शाश्वत, अजन्मा और स्वतन्त्र होकर अपनी महिमा में स्थित हो जाता है। इसके बाद वह आत्मसाक्षात्कार करके और अपनी महिमा में स्थित रहकर संसार-चक्र का अवलोकन इस प्रकार करता है, जैसे रथ से उतरने के बाद व्यक्ति चलते हुए रथ के घूमते हुए पहिए निरासक्त भाव से देखता है। उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है। इसे इस प्रकार से कहा गया है।

यदि कोई साधक बाह्य जगत से पूर्णतया मुक्त होकर छह मास तक इस प्रकार योग अभ्यास करता है, तो उसका अनन्त परम् निगूढ और परिपूर्ण योग अर्थात् ब्रह्मा के साथ ऐक्य संपन्न हो जाता है।

लेकिन उस व्यक्ति का, जो रजोगुण और तमोगुण से आच्छन्न है, वासना से जिसका अंतःकरण भलीभांति जल रहा है तथा पुत्र, पत्नी और कुटुम्ब में आसक्त है, उसकी योग-साधना कदाचित् सफल नहीं हो पाती।

मोक्ष का अधिकारी –

“प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।

गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे”।⁴⁷

विचारों में लीन हृदयवाले शाकायन्य बृहद्रथ से इस प्रकार कह करके तथा ब्रह्म अथवा अपने गुरु को नमस्कार करके बोले- हे राजन ! इसी ब्रह्मविद्या की सहायता से प्रजापति के पुत्र वालखिल्य ऋषि ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर चल पड़े। योगाभ्यास से साधक सन्तोष, द्वन्दों, सुख - दुःख, सर्दी - गर्मी इत्यादि को सहन करने की क्षमता और शान्त स्वभाव को प्राप्त करता है। यह ज्ञान अन्त्यन्त गोपनीय है। इसका वर्णन उसके लिए नहीं करना चाहिए, जो न तो पुत्र हो, न

⁴⁷ वेदान्तसार. २६

शिष्य हो और न ही शान्त स्वभाव वाला हो । यह ज्ञान केवल अनन्यभक्त तथा सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति को ही दिया जाना चाहिए ।

पारमार्थिक ज्ञान के सम्प्रेषण के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञानियों के मध्य प्रारम्भ से ही गहरी सतर्कता की भावना दिखाई देती है। श्वेताश्वतर -उपनिषत् में भी इसी प्रकार का कथन है-

वेदान्तं परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम्।

नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राशिष्याय वा पुनः।⁴⁸

पवित्र स्थान पर, शुद्ध तथा सात्विकभाव से सम्पन्न होकर, अर्थात् आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करता हुआ , सत्य बोलता और सत्य का ही चिन्तन अथवा ध्यान करता हुआ सत्ययज्ञ का अनुष्ठान साधक करे। इससे सत्यब्रह्म की अभिलाषा से युक्त होने पर वह निवृत्त होकर कुछ दूसरा ही हो जाता है , इसके फलस्वरूप उसके बन्धन कट जाते हैं , लौकिक आशाओं से वह मुक्त हो जाता है , दूसरे व्यक्तियों के मध्य में उसे अपने ही जैसी अनुभूति होती है , भय से वह रहित हो जाता है , और इस प्रकार निष्काम भाव से जीवन जीते हुए वह अक्षय और अपरिमित सुख को प्राप्त करके अपने आप में स्थित हो जाता है । परमात्मा ही निष्कामभाव का आगार है , उसी से निष्काम भाव को साधक प्राप्त करता है ,लेकिन यह बहुत कठिन है , क्योंकि करके जो सभा कामनाओं से युक्त पुरुष है , वह अध्यवसाय इच्छा,सङ्कल्प और अभिमान इन लक्षणों से युक्त होने के कारण बन्धनग्रस्त है । लेकिन इनसे भिन्न साधक मुक्त है । इस सन्दर्भ में कुछ का कथन है-यह गुण ही है है, जो प्रकृति की भिन्नतावश अध्यवसायात्मक बन्धन में पड़ता है -सांख्य के अनुसार महत् तत्त्व अर्थात् बुद्धि गुण का परिणाम है। और जब अध्यवसाय इच्छा का दोष नष्ट हो जाता है, तो बुद्धि या महत् तत्त्व, जो गुण का परिणाम है, मुक्त हो जाता है। लेकिन इस

⁴⁸ श्वेता.उप

उपनिषत् का मन्तव्य टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार इससे भिन्न है। उनका कथन है कि इसे चाहे गुण कहें या बुद्धि, मन, चित्त, अहङ्कार, इत्यादि-यह वास्तव में कर्ता नहीं है, यह तो करण अर्थात् साधन मात्र है, क्योंकि साधक । मन से ही देखता है, मन से सुनता है। हम इसे काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धारणा, अधारणा अथवा धैर्य-अधैर्य, लज्जा, बुद्धि, भय, इत्यादि कुछ भी नाम दे दें, वास्तव में यह सब मन ही है। गुणों के प्रवाह में बहता हुआ और कलुषग्रस्त कर दिया गया अस्थिर, चञ्चल, विह्वल, कामनाओं से भरा और बेचैन । लौकिक व्यक्ति इस अभिमान में पड़ जाता है कि 'मैं अमुक हूँ, यह जगत् मेरा है'- इस प्रकार से मानते हुए वह स्वयं ही अपने को बन्धन में उसी प्रकार बाँध लेता है, जैसे -शिकारी के जाल से पक्षी बँध जाता है । इससे यही निश्चित हुआ कि पुरुष अध्यवसाय, सङ्कल्प और अभिमान रूप लक्षणों से बँधा हुआ है। इनसे विपरीत होने पर वह मुक्त हो जाता है। अतएव साधक के लिए यही उचित है कि वह अध्यवसाय, सङ्कल्प और अभिमान से रहित होकर रहे। मोक्ष का यही लक्षण है। यही वह मार्ग है, जो उसे ब्रह्म तक पहुँचाता है। इस सन्दर्भ में इसी प्रकार द्वार खुलता है। इसी से वह इस अन्धकार के पार जा पायेगा। इसी में सभी कामनाएँ समाविष्ट हैं। इस विषय में तत्त्ववेत्ताजन इस श्लोक को उद्धृत करते हैं। जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ निश्चल रूप से स्थित रहती हैं। बुद्धि विचलित होकर नाना प्रकार की चेष्टाएँ नहीं करती, उसी स्थिति और को अनुभवी व्यक्तियों ने परमगति कहा है। यह कहकर शाकायन्य अपने हृदयगत विचारों में लीन हो गये और मरुत् संज्ञक राजा बृहद्रथ उन्हें प्रणाम करके, यथोक्त विधि से उनके प्रति शिष्टाचार का पालन करके अपने मन कृतकृत्यता की अनुभूति करते हुए उत्तरायण की ओर चले गये,

क्योंकि इस सन्दर्भ में अन्य किसी मार्ग से नहीं जाया जाता। यह ब्रह्ममार्ग है। राजा बृहद्रथ सूर्य से सम्बन्धित द्वार का भेदन करके ऊपर उठते चले गए।

हृदय में दीपक से सदृश्य आलोकमय जो आत्मा है, नाड़ियाँ उसकी अनन्त किरणे हैं, जो श्वेत, शाम, भूरी, नीली, हल्की पीली, कपिल और कुछ-कुछ लाल रंग की हैं। उनमें से एक अर्थात् सुषुम्ना नाम्नी नाड़ी सूर्यमंडल का भेदन करके ऊपर ले जाती है। इसके द्वारा साधक कार्यरूप ब्रह्मलोक को पार करके भोग का अंत होने पर परमगति विष्णु के परमधाम के प्राप्त कर लेते हैं। ऊपर की स्थित अन्य जो सौ किरणे नाड़ियाँ हैं, उनके द्वारा साधक विभिन्न देवगणों के निजी धामों में पहुँचता है। इनके अतिरिक्त हल्के प्रकाश वाली तथा अनेक रूपों वाली जो किरणे नाड़ियाँ नीचे स्थित हैं, उनके माध्यम से साधक या उपासक अमुक्त अवस्था में अपने द्वारा किये गए विभिन्न कर्मों के फलों का उपभोग करने के लिए इस संसार में पदार्पण करता है।

इससे यह निश्चित होता है की सृष्टि, स्वर्ग और उपवर्ग मोक्ष इन सभी के मूल कारण भगवान् आदित्य ही हैं। पूछा गया है की ये इन्द्रियाँ किस आधार पर आरूढ़ होकर अपना-अपना कार्य करती हैं? कौन उन्हें ऊपर उठाने वाला है और कौन उनका नियन्त्रण करने वाला है?

इस के उत्तर में कहा गया है की ये इन्द्रियाँ आत्मा के आधार पर अवस्थित हैं। आत्मा ही इन्हें ऊपर ले जाने वाली तथा नियन्त्रित करने वाली है। इन्हें अपने-व्यापार में प्रेरित करते हैं, सूर्य की किरणे अप्सराएँ हैं। इन्हीं पाँचों रश्मियों के द्वारा क्रियाशील इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा विषयों का आस्वादन करता है।

प्रश्न उठता है की फिर यह आत्मा कौन-सा है? उत्तर में कहा जाता है की हो यह शुद्ध, पवित्र, शून्य और शांत इत्यादि लक्षणों से कहा गया है और जिसे उनके अपने ही विशिष्ट लक्षणों से समजा जा सकता है, वही आत्मा है। उसका एक विशिष्ट लक्षण यह है की उसका अपना कोई

विशिष्ट लक्षण नहीं है। कुछ तत्त्वज्ञानियों का कथन है की अग्नि की जो उष्णता है और जल का जो परमकल्याणकारक आस्वाद या रस है वह उसके सदृश्य है। अन्य तत्त्वज्ञानी कहते हैं की वाणी, श्रवणिंदिया, नेत्र, मन और प्राण आत्मा है। अन्य तत्त्वज्ञियों का विचार है की बुद्धि, धृति, स्मृति और प्रकृष्ट ज्ञान आत्मा है। अब ये सभी उस आत्मा के लक्षण उसी प्रकार से हैं, जैसे भूमिगत बीज का लक्षण है अंकुर, अग्नि के लक्षण है धूम, ज्वाला, अङ्गारे इत्यादि। इस सन्दर्भ में इस श्लोक को उद्धृत किया जाता है-

जैसे अग्नि से चिंगारियाँ और सूर्य से किरणे निकलती हैं, ठीक उसी प्रकार प्राण और अन्य सभी तत्त्व यथोचित कर्मानुसार बार-बार उसी आत्मा से प्रवर्तित होते हैं। इसलिए इस आत्मा से ही समस्त वागादि प्राण, सभी लोक, सभी वेद, सभी देवगण और समस्त प्राणी आविर्भूत होते हैं। उस कारण रहस्य यह यह है की वह सत्य का भी सत्य है। जैसे गीली लकड़ियों से जलाई गई अग्नि से धुएँ की राशि निकलती है और पृथक से दिखाई देती है, उसी प्रकार परमेश्वर के निःश्वास से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, श्लोक, सूत्र और अनुव्याख्यान निकले हैं। विश्व के समस्त प्राणी और अन्य तत्त्व उसी परम् सत्ता की व्याख्यास्वरूप ही हैं।

-----*****-----

द्वितीय अध्याय

ब्रह्मयज्ञविमर्श

2.1 ब्रह्मयज्ञ : स्वरूप, महत्त्व

2.2 ब्रह्मयज्ञ : फल तथा उपादेयता

2.3 ब्रह्मयज्ञ का दार्शनिकविवेचन

2.4 वैराग्य विमर्श

2.5 शाकायन्य का उपदेश तथा बृहद्रथ विषयक आख्यान

2.6 भारत के तत्कालीन सम्राटों का परिचय

2.1 ब्रह्मयज्ञ : स्वरूप, महत्त्व

मैत्रायणीय आरण्यक का प्रारम्भ ब्रह्मयज्ञ से अग्निचयन की समानता स्थापित करते हुए होता है तथा कहा भी गया है कि अग्नि चयन करने बाद ही प्राणसंज्ञक आत्मतत्त्व का ध्यान अथवा विचार करना चाहिए। तो सर्वप्रथम हम ब्रह्मयज्ञ पर विमर्श करेंगे।

ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति -

संस्कृत हिन्दी कोश के अनुसार -

ब्रह्मन् - नपुं.(बृंह्+मनिन्,नकारस्याकारे ऋतौ रत्वम्) परमात्मा जो निराकार और निर्गुण समझा जाता है।

वेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म ही इस जगत का निमित्त और उपादान कारण है, यही सर्वव्यापक आत्मा और विश्व की जीव शक्ति है, यही मूल तत्व है जिससे संसार की सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं तथा जिसमें फिर वह लीन हो जाती है।—

अस्ति तावन्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं ब्रह्म-शारीरिक भाष्य. ¹
ब्रह्मोपनिषद् में चतुष्पाद ब्रह्म का वर्णन किया गया है—

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति । नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धेति।

तत्र चतुष्पादं ब्रह्म भवति। जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयमिति।²

अर्थात् इस शरीर में नाभि, हृदय, कण्ठ, और ब्रह्मरन्ध्र- ये चार आत्मा के विशिष्ट स्थान हैं। इन चार स्थानों में चार चरणवाला वह ब्रह्म प्रकाशित होता है। उस आत्मा की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ऐसी चार अवस्थाएँ होती हैं।

यज्ञ पद की व्युत्पत्ति -

शब्दकल्पद्रुम के अनुसार—

यज्ञः- पुं, इज्यते हविर्दीयतेऽत्र। (इज्यन्ते देवता अत्र इति वा)।³

शब्दरत्नावली के अनुसार—

यज्ञः- इष्टिः, इष्टम्, वितानम्, मन्युः, आहवः, सवनम्, हवः अभिषवः, होमः हवनम् महः इति शब्दरत्नावली।⁴

अमरकोष के अनुसार—

¹ संस्कृत शब्दकोश पृ. ७२०

² ब्रह्मोपनिषद् १.१

³ शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थ काण्ड, पृ. ६

⁴ वही पर पृ ६

यज्ञः – यागः, सवः, अध्वरः, सप्ततन्तु, मखः, क्रतुः इत्यमरः।⁵

वाचस्पत्यम् के अनुसार-

यज –भावे। यागे अमरः। स त्रिविधः

“अफलाऽकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्षमपि चैव यत्। इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रंहीनमदक्षिणम्। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में यज्ञ के विषय में कहा है –

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥⁶

अर्थात् यहाँ पर यज्ञ को यज्ञपुरुष की संज्ञा दी गई है। देवताओं ने इस यज्ञपुरुष के साधन से जो यज्ञ का कार्य प्रारम्भ किया है वे आरम्भ के धर्म श्रेष्ठ थे। ऐसे यज्ञधर्म का आचरण करने वाले धार्मिक लोग जहाँ पूर्व समय में देवता निवास करते थे वे महात्मा लोग निश्चय से उसी सुखपूर्ण स्थान में जाकर रहने लगे।

गीता में कहा गया है-

जो ज्ञानी व्यक्ति यज्ञार्थ कर्म करता है उसके सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं –

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥⁷

जिस पुरुष की सब और से आसक्ति निवृत्त हो चुकी है, जिसके पुण्य-पापस्वरूप बन्धन छुट गये हैं, जिसका चित्त निरन्तर ज्ञान में स्थित है, ऐसे केवल यज्ञसम्पादन के लिए ही कर्मों का आचरण

⁵ अमरकोष २.७.१३

⁶ ऋग्वेद, १०.९०.१६

⁷ गीता, ४.२३

करने वाले उस सङ्गहीन मुक्त और ज्ञानावस्थित- चित्तपुरुष के समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं। अग्र शब्द फल का वाचक है। उसके सहित कर्मों को समग्र कर्म कहते हैं, अतः यह अभिप्राय हुआ कि उसके फल सहित समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं।

2.2 ब्रह्मयज्ञ : फल तथा उपादेयता

यज्ञ वैदिक जीवन एवं वैदिक साहित्य का अविभाज्य अंग है। वैदिक ऋषियों की सम्पूर्ण जीवनचर्या यज्ञ कर्म से अनुप्राणित थी। भारतीय संस्कृति में यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान है। यह यज्ञ ही इहलोक में साक्षात् ऐश्वर्यरूप, पापों, रोगों आदि का शोधक तथा परलोक में स्वर्ग प्राप्ति के साधन⁸ एवं अमरता को प्राप्त कराने वाला है। इसलिए यज्ञ के विषय में शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है –

“यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।”⁹

अर्थात् यज्ञ ही श्रेष्ठ कर्म है। इसी प्रकार कौशीतकी ब्राह्मण में कहा गया है-

‘यज्ञो वै भुवनेषु जैष्ठ।’¹⁰

प्रजापति ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही देवों और मनुष्यों के पारस्परिक कल्याण के लिए यज्ञ को उत्पन्न किया था।¹¹ अतः जन्यजनक सम्बन्ध के अभेदत्व के आधार पर यज्ञ को प्रजापति ही कहा गया है।¹²

⁸ शतपथ.ब्रा.१.७.३.१

⁹ शतपथ.ब्रा.१.७.३.५

¹⁰ कौ.ब्रा.२.५.११

¹¹ सह्यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेर्ष वोऽस्त्विष्टकानधुक्॥ भ.गी.३.१०

¹² शत.ब्रा.१.७.४.४

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को देवों की आत्मा कहा गया है।¹³ निरुक्तकार भी जब यह उल्लेख करता है कि वाणी का पुष्प यज्ञ है तथा फल देव है तो इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।¹⁴

यज्ञ की उपयोगिता और विधिवत्ता को यज्ञ शब्द की धातु 'यज्ञ देवपूजा संगतिकरण दानेषु' से स्पष्ट किया गया है।¹⁵ किन्तु इस धात्वर्थ में वैदिक यज्ञों की आधारभूत धारणा का आशय अव्यक्त रह गया है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के निवर्चन से सम्बन्धित वर्णन मिलता है कि विस्तारित विकसित किया जाता हुआ जो उत्पन्न होता है वह यज्ञ है।

कौषितकि ब्राह्मण में वर्णन मिलता है कि प्रजापति ने सृष्टि सृजन रूप यज्ञ किया, उसमें अग्न्याधान से रेतस्, उससे देव, मनुष्य और असुर आदि की उत्पत्ति हुई तथा चातुर्मास्य आदि पर्वों से युक्त चौबीस संवत्सर वाला प्रजापति सब ओर से सब को व्याप्त किए हुए है।¹⁶ इस प्रकार यज्ञ का मूल सम्बन्ध सतत् क्रियाशील सृष्टि की उत्पत्ति विद्या से है।

विभिन्न सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का साधन भी यज्ञ को ही माना जाता है। दीर्घायु, तेजस्, ब्रह्मवर्चस्, स्वर्ग, श्री, यश, पराक्रम, भोजन, पशु, अन्न, कल्याण, प्रजा आदि कामनाओं की पूर्ति यज्ञ से ही संभव है।¹⁷

यज्ञ का विकास

वैदिक यज्ञ अपनी महत्ता में जितना अप्रतिम है, जटिलता में भी उतना ही अनुपम है। अग्निहोत्रयाग अन्य यज्ञों की कल्पना का उद्गम है। अग्निहोत्र नामक इस दैनिक उपासना के साथ-साथ प्रजा उत्पत्ति और रोग निवारण कर अमृतत्व प्राप्ति की नवीन आकांक्षा से दर्शपूर्ण मास और चातुर्मास्य यज्ञों की कल्पना उभरी होगी। दर्शपूर्णमास मुख्यतः प्रजोत्पत्ति की कामना और

¹³ आत्मनैवेत्य ब्रुवन्। यज्ञो वै देवानात्मा' शत. ब्रा. ९. ३. २. ७

¹⁴ निरुक्त १. ६

¹⁵ ऋ. ब्रा. का सामान्य अध्ययन-पृ. २२०

¹⁶ कौ. ब्रा. ६. १. ५

¹⁷ ऐ. ब्रा. १. ५

शरीर रचना की भी स्थिति को व्यक्त करता है। तत्पश्चात् सोम यागों का प्रचार हुआ क्योंकि यज्ञ में सोम की आहुति का प्रयोग बाद में प्रारम्भ हुआ था।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ की जिस विचारधारा का उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार उसके दो स्वरूप हैं -

1. प्राकृत यज्ञ।

2. कृत्रिम यज्ञ।

प्राकृत यज्ञों को आदर्श रूप माना जाता है।¹⁸ जो कि प्रकृति में निरन्तर चल रहा है। उसी का अनुसरण करके कृत्रिम यज्ञ किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में संरचना का मुख्य कारण यज्ञ होते हुए भी यज्ञ संस्था के क्रमिक स्वरूप का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। इनमें मूल विषय विभिन्न यज्ञों, उनके प्रयोजनों, यज्ञीय सामग्री, यज्ञ कराने वाले पुरोहितों आदि का प्रासंगिक वर्णन मिलता है। वेदि में प्रज्वलित अग्नि में विभिन्न देवों के निमित्त हविष्य अथवा सोमरस की आहुति ही यज्ञ है। यह यज्ञाग्नि प्रमुखतः दो प्रकार की मानी गई है -

1. स्मार्ताग्नि

2. श्रौताग्नि

स्मार्ताग्नि द्वारा किए गए यज्ञ 'गृह्य यज्ञ' कहलाते हैं और श्रौताग्नि द्वारा किए गए यज्ञ 'श्रौतयज्ञ' कहलाते हैं।

1. गृह्य यज्ञ

प्रत्येक विवाहित व्यक्ति का यह कर्तव्य था कि वह उपनीत होकर स्मार्ताग्नि की स्थापना करे। स्मार्ताग्नि में क्रियमाण यज्ञ पाकयज्ञ अथवा होत्रयज्ञ भी कहलाता है जिसके अन्तर्गत औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिक श्राद्ध, श्रवणा तथा शूलगव ये सात अवान्तर यज्ञ आते हैं।

¹⁸ धर्मशास्त्र का इतिहास भाग - १ पृ.सं. ५४५

कतिपय गृह्य सूत्रों में सांय होम, प्रातःहोम, स्थालीपाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृयज्ञ तथा अष्टका भेद गिनाए गए हैं। अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों में इन अवान्तर प्रकारों में से कुछ का उल्लेख मिलता है। किन्तु प्रायः इनका सम्बन्ध श्रौत यज्ञों से है। गृह्य यज्ञ श्रौत यज्ञों की अपेक्षा साधारण एवं सरल हैं।

2 श्रौत यज्ञ

विधिपूर्वक दीक्षा लेने के उपरान्त ही मनुष्य श्रौतयज्ञ का अधिकारी बनता है। अधिकारी व्यक्ति के लिए अग्न्याधान करना आवश्यक है जो पच्चीस से लेकर चालीस वर्ष की उम्र वाले सप्तरीक व्यक्ति ही कर सकते हैं। श्रौताग्नि के चार स्वरूप बताये गए हैं –

1. गार्हपत्य अग्नि
2. आहवनीय अग्नि
3. दक्षिणाग्नि
4. सम्याग्नि

उपर्युक्त अग्नियों में नाना होम-द्रव्यों, आज्य, पृषदाज्य, पुरोडाश, चरु, सोम सन्नच्य आमिक्षा, वाजिन करम्भ, मन्थ धागा आदि का प्रक्षेपण श्रौत यज्ञ कहलाता है। इसके दो भेद हैं –

1. हविसंस्था
2. सोम संस्था

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रारम्भ हविर्यज्ञों की विधियों से होता है। हविर्यज्ञ जिसे दृष्टि के नाम से भी अभिहित किया गया है। हविर्यज्ञ के सात प्रकार हैं।

1. अग्निहोत्र	2. अग्न्याधान	3. दर्श	4. पौर्णमास
5. आग्रायण	6. चातुर्मास्य	7. पशुबन्ध	

इसी प्रकार श्रौत यज्ञों की सोम संस्था के भी सात भेद बताए हैं –

1. अग्निष्टोम	2. उक्थ्य ¹⁹	3. षोडशी	4. अतिरात्र
5. अत्यग्निष्टोम	6. वाजपेय	7. आप्तोर्याम	

सोम यज्ञों के लिए त्रिविध अग्नि अनिवार्य है –

1. गार्हपत्य	2. दक्षिणाग्नि	3. आहवनीय अग्नि
--------------	----------------	-----------------

इन यज्ञों में सोमरस की आहुति दी जाती है। सोम के तीन सवन होते हैं।

1. प्रातः सवन । 2. माध्यन्दिन सवन 3. सायं सवन।

सोम यज्ञ के भी कालजन्य तीन भेद होते हैं²⁰ -

1. एकाह - एक दिन में सम्पन्न होने वाला यज्ञ।
2. अहीन - दो दिवस में सम्पादित होने वाला यज्ञ।
3. सत्र- तेरह दिनों से वर्षभर या इससे ज्यादा चलने वाला यज्ञ।

यज्ञ के अनुष्ठाता -

यज्ञ रूपी वृक्ष को पुष्पित करने में ऋत्विजों का विशेष योगदान है। यज्ञ में प्रायः अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा और उद्गाता चार ऋत्विज होते हैं। लेकिन सोम यज्ञों का सम्पादन करने के लिए सोलह पुरोहितों की आवश्यकता होती है। कुछ विद्वानों ने सत्रहवां पुरोहित सदस्य माना है।

‘सदस्य सप्तदश कौषितकिनः समामनन्ति।²¹

¹⁹ तेषामुक्थ्योऽच्छावाकमभि सन्तिष्ठिते होतारमितरे। का.श्रौ.सू.१०.९.२७

²⁰ आश्व.श्रौ.सू.९.५.११

सोलह पुरोहितों में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उदगाता चार प्रमुख तथा शेष तीन उनके सहायक। अग्निहोत्र में केवल अध्वर्यु की आवश्यकता होती है। अग्न्याधेय, दर्शपौर्ण मास एवं अन्य इष्टियों में चार प्रमुख पुरोहितों की आवश्यकता होती है।

2.3 ब्रह्मयज्ञ का दार्शनिक विवेचन

उपयुक्त विवेचन में हमने ब्रह्म और यज्ञ पदों की व्युत्पत्ति की है। अब ब्रह्मयज्ञ के विषय में वर्णन किया जा रहा है।

गीता में कहा गया है-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥²²

ब्रह्मवेत्ता पुरुष जिस साधन द्वारा अग्नि में हवि अर्पण करता है, उस साधन को ब्रह्मरूप ही देखा करता है, अर्थात् आत्मा के सिवा उसका अभाव देखता है। जैसे-सीप को जाननेवाला सीप में चाँदी का अभाव देखता है "ब्रह्म ही अर्पण है। इस पद से भी वही बात कही जाती है। अर्थात् जैसे यह समझता है कि जो चाँदी के रूप में दीख रही है वह सीप ही है। वैसे ही ब्रह्मवेत्ता भी समझता है कि जो अर्पण दीखता है वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म और अर्पण-यह दोनों पद अलग-अलग हैं। अभिप्राय यह कि संसार में जो अर्पण माने जाते हैं वे स्रुक, स्रुव आदि सब पदार्थ उस ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में ब्रह्म ही हैं। वैसे ही जो वस्तु हविरूप से मानी जाती है वह भी उसकी दृष्टि में ब्रह्म ही होता है। 'ब्रह्मानौ' यह पद समासयुक्त है। इसलिये यह अर्थ हुआ कि नामरूप कर्ताद्वारा जिसमें हवन किया जाना है वह अग्नि भी ब्रह्म ही है। और वह कर्ता भी नाम ही है और जो उसके द्वारा हवनरूप क्रिया की जाती है वह भी ब्रह्म ही है। उस ब्रह्म कर्म में स्थित हुए पुरुष द्वारा प्राप्त करने योग्य जो फल है वह भी ब्रह्म ही है। जिसके चित्तका समाधान हो चुका है उस पुरुष द्वारा

²¹ आप.श्रौ.सू.१०.१.९

²²गीता ४.२४

प्राप्त किये जाने योग्य जो फल है वह भी ब्रह्म ही है। इस प्रकार लोकसंग्रह करना चाहनेवाले पुरुष द्वारा किये कर्म भी ब्रह्मबुद्धि से बाधित होने के कारण अर्थात् फल उत्पन्न करने की शक्ति से रहित कर दियेजाने के कारण वास्तव में अकर्म ही हैं। ऐसा अर्थ मान लेनेपर कर्मों छोड़ देनेवाले कर्म-संन्यासी के ज्ञान को भी यथार्थ ज्ञानकी स्तुति के लिये यज्ञरूप समझना भली प्रकार बन सकता है, अधियज्ञ में जो सुवादि वस्तुएँ प्रसिद्ध हैं वे सब इस यथार्थ ज्ञानी संन्यासी के सम्यक् ज्ञानरूप अध्यात्मयज्ञ में ब्रह्म ही हैं। उपर्युक्त अर्थ नहीं मानने से वास्तव में सब ही ब्रह्मरूप होने के कारण केवल सुवा आदिको ही विशेषता से ब्रह्मरूप बतलाना व्यर्थ होगा। न तो सुतरां यह सब कुछ ब्रह्म ही है। इस प्रकार समझनेवाले ज्ञानी के लिये वास्तव में सब कर्मों का अभाव ही हो जाता है। तथा उसके अन्तःकरण में क्रिया, फल आदि कारकसम्बन्धी भेदबुद्धि का अभाव होने के कारण भी यही सिद्ध होता है। क्योंकि कोई भी यज्ञ नामक कर्म कारकसम्बन्धी भेदबुद्धि से रहित नहीं देखा गया। अतः अभिप्राय यह है कि अग्निहोत्रादि सभी कर्म, इन्द्राय, वरुणाय आदि शब्दों द्वारा हवि आदि द्रव्य जिनके अर्पण किए जाते हैं, उन देवताविशेषरूप सम्प्रदान आदि कारकबुद्धिवाले तथा कर्तापिन के अभिमान से और फल की इच्छा से युक्त देखे गये हैं। जिसमें से क्रिया, कारक और फल सम्बन्धी भेदबुद्धि नष्ट हो गई हो तथा जो कर्तापिन के अभिमान से और फल की इच्छा से रहित हो ऐसा यज्ञ नहीं देखा गया, परन्तु यह उपर्युक्त कर्म तो ऐसा है कि जिसमें सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जाने के कारण, अर्पणादि कारक, क्रिया और फल सम्बन्धी भेद बुद्धि नष्ट हो गई है। इसलिए यह अकर्म ही है। और इसी प्रकार दिखलाते हुए भगवान् जगह-जगह क्रिया, कारक और फलसम्बन्धी भेदबुद्धिका निषेध कर रहे हैं। देखा भी गया है कि सकाम अग्निहोत्रादिने कामना न रहनेपर वे सकाम अग्निहोत्रादि नहीं रहते। उनकी सकामता नष्ट हो जाती है। तथा यह भी देखा गया है कि जान-बूझकर किये हुए और अनजाने में किये हुए कर्म भिन्न-भिन्न कार्योंके आरम्भक होते हैं अर्थात् उनका फल अलग-अलग होता है। वैसे ही यहाँ भी जिस पुरुषकी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेसे सुव, हवि आदि में क्रिया, कारक और फलसम्बन्धी

भेदबुद्धि नष्ट हो गयी है, उस ज्ञानी पुरुषके बाह्य चेष्टामात्रसे होनेवाले कर्म भी अकर्म हो जाते हैं । इसीलिये कहा है कि उसके फलसहित कर्म विलीन हो जाते हैं ॥ इस विषयमे कोई-कोई टीकाकार कहते हैं कि जो ब्रह्म है यही सुव आदि है अर्थात् ब्रह्म ही सुव आदि पाँच प्रकार के कारकों के रूप में स्थित है और वही कर्म किया करता है, उसके सिद्धान्तानुसार उपर्युक्त यज्ञमे सुव आदि बुद्धि निवृत्त नहीं की जाती किन्तु सुवा आदि में ब्रह्मबुद्धि स्थापित की जाती है, जैसे कि मूर्ति आदि में विष्णु आदि देवबुद्धि या नाम आदिमें ब्रह्मबुद्धि की जाती है।

ब्रह्मयज्ञो वा एष यत्पूर्वेषां चयनम्।²³

यत्पूर्वेषाम् – यहाँ पर पूर्व विहित कर्मों को परमेश्वरार्पण बुद्धि से फलासक्ति को त्यागना ही तात्पर्यार्थ है। गीता में भी कहा गया है-

ब्रह्मण्याध्याय कर्माणि सगुणं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥²⁴

अर्थात् जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है वह पुरुष जलसे कमलके पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता। गरुडपुराण में अध्यापन को ही ब्रह्मयज्ञ कहा गया है –

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।²⁵

वही मनुस्मृति में ब्रह्मयज्ञ को ऋषियज्ञ की संज्ञा दी गई है –

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।

नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥²⁶

²³ मैत्रायणीयारण्यक १.१

²⁴ गीता ५.१०

²⁵ गरुडपुराण अध्याय ११५

²⁶ मनुस्मृति ४.२१

इसमें कहा गया है कि स्वाध्यायादि पञ्चयज्ञों को यथासम्भव न त्यागे। यहाँ पर स्वाध्याय को ही ब्रह्मयज्ञ कहा गया है।

तैत्तिरीय आरण्यक के द्वितीय प्रपाठक में पञ्चमहायज्ञों का वर्णन किया गया है।

पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठन्ते देवयज्ञःभूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।²⁷

जिसमें ब्रह्मयज्ञ का भी उल्लेख किया गया है। इसके द्वितीय प्रपाठक का प्रारम्भ ही स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ के वर्णन से होता है। अतः इसका नाम स्वाध्याय ब्रह्मण भी है।

सृष्टि के प्रारम्भ में तपस्या करते हुये विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषियों ने परमात्मा की कृपा से स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ का दर्शन किया तथा उससे देवताओं का आराधना किया।

स्वाध्याय – “सुष्ठु आवृत्य अध्यायः वेदाध्ययनमिति” इस विग्रह से सु और अधि पूर्वक इङ् धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय करने स्वाध्याय शब्द निर्मित होता है।

तैत्तिरीय आरण्यक में स्वाध्याय की विधि का भी प्रतिपादन किया गया है। जैसे गाँव में मानसिक स्वाध्याय का विधान है। -

ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तं वेति स्माह शौच आह्वेय उतारण्येऽबल तिष्ठन्नुत ब्रजन्नुतासीन उत शयानोऽधीयीतैव स्वाध्यायं तपस्वी पुण्यो भवति ये एवं स्वाध्यायमधीते।²⁸

अर्थात् स्वाध्याय रात में भी किया जा सकता है, स्वाध्याय चलते हुये, बैठकर अथवा सोये भी भी अवश्य करें। इसका निहितार्थ यही है कि स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक होता है। स्वाध्याय की प्रशंसा में कहा गया है- अन्य यज्ञ की भाँति इस यज्ञ में द्रव्यादि की आवश्यकता नहीं होती है। रात्रि के पश्चात् प्रातः उषाकाल में उठकर चलते हुये,बैठे,लेटे स्वस्वसामर्थ्यानुसार स्वाध्याय अवश्य करे। शरीर जब तक साथ दे स्वाध्याय अवश्य करे। स्वाध्यायशील व्यक्ति सभी

²⁷ तैत्तिरीय आरण्यक २.१०.१

²⁸ तै.आ.२.१२

लोकों को जीत लेता है और सभी ऋणों से मुक्ति पा लेता है। यह सभी यज्ञों का मूल है।
स्वाध्याय- कर्त्ता देवमार्ग व पितृमार्ग आदि सभी से उऋण हो जाता है।

स्वाध्याय के दो अनध्याय भी बताये गये हैं। -

तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदाऽत्माऽशुचियद्येशः।²⁹

अर्थात् जब व्यक्ति चिताधूम से लौटा हो अथवा अन्य मृत्युसम्बन्धी किसी प्रकार के अशौच में हो तो स्वाध्याय को बाधित कर सकता है।

दूसरा स्थान सम्बन्धी अनध्याय है – जिसमें कहा गया है कि मूत्र एवं पुरीष स्थान पर स्वाध्याय न करें।

2.5 शाकायन्य का उपदेश तथा बृहद्रथ विषयक आख्यान –

बृहद्रथो ह वै नाम राजा विराज्ये निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानं शारीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनिरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद् भगवान् शाकायन्यः। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रीत्। स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन् नाहमात्मवित् त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीति। एतद् व्रतं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान् कामान् वृणीष्वेति। शाकायन्यस्य चरणमभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद॥³⁰

अर्थात् बृहद्रथ नाम के राजा को “यह शरीर अनित्य है” –ऐसा विचार आने से वैराग्य उत्पन्न हुआ। इसलिए वह अपने वैराज्य कोटि के राज्य में अपने स्थान पर अपने पुत्र को आसीन करके, विरक्त होकर वन को चले गये। वे वहाँ पर परम तपस्या में लीन होकर, सूर्य पर दृष्टि को केन्द्रित किये हुये तथा ऊपर हाथ ऊठाये स्थित रहे। इसप्रकार तपस्या करते हुये उन्हें

²⁹ तै.आ. २.१५

³⁰ मैत्रायणीय आरण्यक १.१

जब एक हजार दिन बीत गये, तब उनके सम्मुख धूमरहित अग्नि के सदृश तेज से देदीप्यवान् आत्मवेत्ता भगवान् शाकायन्य पधारे। उन्होंने राजा से कहा - “उठो, उठो! वर माँगो”। राजा ने उन्हें नमस्कार करके कहा – भगवन्! मैं आत्मतत्त्व के ज्ञान से रहित हूँ और आप उसके ज्ञाता है, ऐसा हमने सुना है इसलिए आप हमें उसका उपदेश कीजिए। इस पर शाकायन्य ने कहा – हे इक्ष्वाकुवंशी राजन्! यह विषय और प्रश्न तो पहले से ही अत्यन्त कठिन है। इसलिए अन्य कामनाओं का वरके रूप में तुम वरण करो। राजा ने यह सुनकर अपने शिरसे शाकायन्य के चरणों को रगड़ते हुये य गाथा कही।

बृहद्रथ – ऋग्वेद में इस नाम के राजा का उल्लेख भी मिलता है –

अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे। अग्निर्यन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः।³¹

विराज्य³² – वैदिक वाङ्मय में, विशेषरूप से ऐतरेय ब्राह्मण में राज्यों का उल्लेख है – जैसे – राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, परामेष्ठ्य, माहाराज्य आधिपत्य इत्यादि। यहाँ पर वैराज्य का अभिप्राय सार्वभौम चक्रवर्तित्व है।

शाकायन्य – मैत्रायणी शाखा के साथ अन्य ग्रन्थों में भी ऋषि शाकायन्य का उल्लेख मिलता है। यथा- काठक संहिता में – एतद्ध वा उवाच जातः शाकायन्यः शङ्खं कौष्यम्³³। इससे प्रतीत होता है कि ये प्राचीन तत्त्ववेत्ता ऋषि हैं।

2.4 वैराग्य-विमर्श

राग से निवृत्ति अर्थात् इहलोक और परलोक के भोग राग से मुक्त होना ही वैराग्य है। वेदान्तसार में कहा गया है-

ऐहिकानां स्त्रकचन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादि

विषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थं फलभोग-विरागः।³⁴

³¹ ऋ. १. ३६. १८

³² ऐतरेय आरण्यक. ७. ३२

³³ काठक संहिता . २२७

अर्थात् जैसे कर्मों के फल होने से कामिनी,माला,चन्दनादि समस्त ऐहलौकिक भोग नश्वर है, वैसे ही यज्ञादि कर्मों के फल होने से अप्सरायें,नन्दनवन,अमृत इत्यादि पारलौकिक भोग भी अनित्य एवं नश्वर है। ऐसा समझकर उनसे विरक्त होना ही इहामूत्रार्थफलभोगविराग है। विराग का अर्थ वैराग्य है।

वैराग्य के विषय में भट्टहरि अपने स्वरचित ग्रन्थ वैराग्यशतक में कहते हैं-

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं,
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्दाद्भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥³⁵

अर्थात् विषय भोगों में रोगों का भय है, वंश में आचार भ्रष्टता या सन्तान का भय है, धन में राजा का भय है, मौन रहने में दीनता का भय है, बल प्राप्त करने पर शत्रुओं का भय है, रूप सौन्दर्य में बुढापे का भय है, शास्त्र पढने पर पराजित होने का भय है, गुण प्राप्त करने पर दुष्टों द्वारा व्यर्थ की निन्दा का भय है, शरीर में मृत्यु का भय है। इसप्रकार पृथ्वी पर सारी वस्तुएँ भय से युक्त है, केवल एक वैराग्य ही निर्भय बनाने वाला है।

जब तक तुम संसार के सुखों के पीछे छिपे हुए दुःखों को समझ नहीं लोगे, तब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होगा। बिना वैराग्य के चञ्चल मन एकाग्र नहीं होगा, एकाग्रता के बिना समाधि नहीं लगेगी, समाधि के बिना ईश्वर के दर्शन नहीं होंगे, बिना ईश्वर दर्शन के अज्ञान का नाश नहीं होगा और अज्ञान नाश हुए बिना दुःखों की समाप्ति और पूर्ण तथा स्थायी सुख अर्थात् मुक्ति नहीं होगी।

छान्दोग्योपनिषद में भी कहा गया है-

³⁴ वेदान्तसार.पृ.३३

³⁵ वैराग्य शतक.श्लो.३१

तद्यथेह कर्मजितो लोकःक्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।³⁶

इस लोक में अपने स्वामी के अनुशान का अनुवर्तन करने वाली उन प्रजाओं का सेवादिकर्म से प्राप्त किया हुआ यह लोक जिसका उपभोग पराधीन है, क्षीण अन्तवान हो जाता है। उसी प्रकार परलोक में अग्निहोत्रादि पुण्य कर्म से प्राप्त किया हुआ लोक भी, जिसका उपभोग पराधीन है, इन अनात्मवेत्ताओं को ही प्राप्त होता है। सो इस लोक में ज्ञान और कर्म के अधिकारी अर्थात् योग्यता सम्पन्न होकर जो लोक शास्त्र और आचार्यद्वारा उपदेश किये हुए उपयुक्त लक्षण वाले आत्मा को उनके उपदेश के अनुसार बिना जाने-स्वात्मसंवेद्यता को बिना प्राप्त किये इस देह से चले जाते हैं और जो इन उपयुक्त सत्य-संकल्पी कार्यभूत अपने अंतःकरण में स्थित सत्य कामनाओं को बिना जाने चले जाते हैं उनकी सम्पूर्ण लोको में अकामगति-अस्वतन्त्रता होती है। जिस प्रकार की राजा की आज्ञा का अनुवर्तन करने वाली प्रजाओं की परतंत्रता रहती है। और जो दूसरे लोग इस लोक में शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनुसार आत्मा को जानकर--स्वात्मसंवेद्यता को प्राप्त करके और उपर्युक्त सत्य कामनाओं को जानकर परलोक में जाते हैं उनकी इस लोक में सार्वभौम राजा के समान सम्पूर्ण लोको में यथेच्छगति होती है।

यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं'

जो कोई भी इस अविद्याकामकर्मजनित तथा अग्न्यधीन कर्माभिमान के कारण अथवा ब्राह्मण जाती मात्र के कर्माभिमान के कारन आगन्तुक पिंडग्रहणरूप सांसारिक अनात्मभूतलोक से, अपने आत्मा सज्ञक लोक को, जो आत्मस्वरूप होने के कारन अव्यभिचारी है, मैं ब्रह्मा हूं इस प्रकार न देख कर न जानकर चला जाता अर्थात् मर जाता है, वह यद्यपि स्वलोक है, तो भी अविदित-अविद्या से व्यवहित अर्थात् अस्वलोक के समान अज्ञात रहने पर, लौकिक दृष्टांत में दशम संख्या की पूर्ति के समान, इस आत्मा का शोक, मोह एवम भय आदि दोषोंकी निवृत्ति

³⁶ छान्दोग्योपनिषद. ८.६

द्वारा भरण यानी पालन नहीं करता । तथा लोक में जिस प्रकार अननुक्त-बिना अध्यन किया हुआ वेद कर्माधिके अवबोधक रूप से पालन नहीं करता एवम अन्य कृषि आदि लौकिक कर्म आकृत यानी अपने स्वरूप से अभिव्यक्त न होने पर अपने फलप्रधानके द्वारा पालन नहीं करता,उसी प्रकार स्वलोक आत्मा अपने नित्य आत्मस्वरूप से अभिव्यक्त न होने पर अविद्यादिके विनाश द्वारा पालन नहीं करता ।

"यो वा एतदक्षरं"

इस लोक में जो कोई इस अक्षर को न जानकर अर्थात् बिना जाने हवन, यज्ञ और अनेको सहस्र वर्षपर्यन्त तप भी करता है तो उसका वह फल अन्तवान ही होता है; उस फल-भोग के पश्चात् इस के कर्म क्षीण हो ही जाते हैं । इस के सिवा जिसके विज्ञानसे कृपणताका अतिक्रमण एवम और संसार का विच्छेद होता है तथा जिसका विज्ञान न होने से कर्मकर्ता कृपण, किये हुये कर्म के फल का ही उपभोग करने वाला और जन्म-मरण के परम्परा पर आरूढ़ हो कर संसार बन्धन को प्राप्त होता है, वह अक्षर ही । प्रशास्ता है । इस से यह कहा जाता है जो भी इस अक्षर को बिना जाने इस लोक से मर कर जाता है, वह पैसों से खरीदे हुए गुलाम आदि की तरह कृपण है जो कोई इस अक्षर को जानकर इस लोक से मर कर जाता है, वह ब्राह्मण है ।

आत्मविद्भगवानिति – विष्णुपुराण में कहा गया है।—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।

वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥³⁷

अर्थात् जिस में उत्पत्ति और प्रलय जहाँ जीवों का आगमन और निगमन होता है। तथा जो विद्या और अविद्या को भलीभाँति जानता है, उसे भगवान कहा जाता है।

वैराग्य में बाधक तत्व

³⁷ विष्णुपुराण ६.५

कामक्रोधलोभमोहभयविषादेष्येष्टवियोगानिष्टसम्प्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽ
स्मिशरीरे किं कामोपभोगैः॥

कामोऽप्राप्ताभिलाषः। क्रोधः प्रसिद्धः । अभिलाषों (इच्छाओं) की अप्राप्ति ही काम है। क्रोध
मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में सिद्ध है। गीता में भी कहा गया है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥³⁸

अर्थात् - विषयों का चिन्तन करने वाले अर्थात् शब्दादि विषयों की बारंबार
आलोचना करनेवाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति- प्रीति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति से उन
विषयों की कामना-तृष्णा उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पडने से क्रोध उत्पन्न होता है।
इसी विषयान्तर्गत क्रोध के विषय में कहा है-

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥³⁹

अर्थात् क्रोध से संमोह अर्थात् कर्तव्य- अकर्तव्य- विषयक अविवेक उत्पन्न होता है,
क्योंकि क्रोधी मनुष्य मोहित होकर गुरुको भी अपशब्द कह दिया करता है। मोह से स्मृति का
विभ्रम होता है अर्थात् शास्त्र और आचार्यद्वारा सुने हुए उपदेश के संस्कारों से जो स्मृति उत्पन्न
होती है उसके प्रकट होने का निमित्त प्राप्त होने पर वह प्रकट नहीं होती। इस प्रकार स्मृतिविभ्रम
होने से बुद्धि का नाश हो जाता है। अन्तःकरण में कार्य-अकार्य विषयक विवेचन की योग्यता का

³⁸ भ.गी. २. ६२

³⁹ भ.गी. २. ६३

न रहना, बुद्धि नाश कहा जाता है। और बुद्धि का नाश होने से यह मनुष्य नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह तब तक ही मनुष्य है जबतक उसका अन्तःकरण कार्य- अकार्य के विवेचन में समर्थ है, ऐसी योग्यता न रहने पर मनुष्य नष्टप्राय मृतक के समान ही होता है। अतः उस अन्तःकरण की विवेकशक्ति रूप बुद्धि का नाश होने से पुरुष का नाश हो जाता है।

लोभ:-

गीता में काम क्रोध लोभ को आसुरी सम्पत्ति के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। जिन कामादि तीन भेदों में, आसुरी सम्पत्तिके अनन्त भेद होने पर भी सबका अन्तर्भाव हो जाता है, जिन तीनों का नाश करनेसे सब दोषों का नाश हो जाता है और जो सब अनर्थों के मूल कारण है, उनका वर्णन किया जाता है-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेते त्रयं त्यजेत् ⁴⁰॥ २१ ॥

आत्मा का नाश करनेवाले, ये तीन प्रकार के दोष, नरकप्राप्ति के द्वार हैं। इनमें प्रवेश करने मात्र से ही आत्मा नष्ट हो जाता है, अर्थात् किसी पुरुषार्थ के योग्य नहीं रहता। इसलिये ये तीनों आत्मा का नाश करनेवाले द्वार कहलाते हैं। वे कौन हैं? काम, क्रोध और लोभ। निश्चय से इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि ये काम आदि तीनों नरकद्वार आत्मा का नाश करनेवाले हैं, इसलिये इनका त्याग कर देना चाहिये। ये काम आदि दुःख और मोहरूप अन्धकारमय नरक के द्वार हैं इन तीनों अवगुणों से छूटा हुआ मनुष्य आचरण करता है साधन करता है। क्या साधन करता है? आत्मकल्याणका साधन, पहले जिन कामादि के वश में होने से नहीं करता था, अब उनका नाश हो जाने से करता है, और उस साधनसे (वह) परमगति को, अर्थात् मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है। इस समस्त आसुरी सम्पत्तिके त्यागका और कल्याणमय आचरणोंका, मूल कारण शास्त्र है, शास्त्र प्रमाणसे ही दोनों किये जा सकते हैं, अन्यथा नहीं,

⁴⁰ गीता १६.२१

अतः जो मनुष्य शास्त्र के विधान को , अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य के ज्ञान का कारण जो विधि - निषेध - बोधक आदेश है उसको छोड़कर कामना से प्रयुक्त हुआ वर्तता है , वह न तो सिद्धिको पुरुषार्थ की योग्यता को पाता है, न इस लोक में सुख पाता है और न परम गति को अर्थात् स्वर्ग या मोक्षको ही पाता है। सुतरां कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में सुधार के लिये शास्त्र ही प्रमाण है , अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने का साधन है । अतः शास्त्र विधान से कही हुई बात को समझकर यानी आज्ञा का नाम विधान है।

प्राप्तेष्वपि विषये बुद्धिराहित्यम् -

सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के पश्चात् भी बुद्धि से रहित मानसिक लालसा ही लोभ को उत्पन्न करती है।

मोहोऽनर्थेऽर्थबुद्धिः।

भयं परित्रासः।

मनुष्य के द्वारा रागादि विषयों से मन को दूर करने में असमर्थ मानता हुआ जो दैन्यात्मक चित्तवृत्ति विशेष है। वही भय है।

विषादः शोकः।

ईर्ष्या परप्रद्वेषः - दूसरों के गुणों से भी द्वेष करना ही ईर्ष्या है।

इष्टवियोगः स्वानुकूलपुत्राद्यनुबन्धवैकल्यम् -

अपने अनुकूल पुत्र,पुत्री,पत्नी,माता,पिता,बन्धु भगिनी का वियोग ही इष्टवियोग है। अनिष्टसम्प्रयोग स्वप्रतिकूलानुबन्धसङ्कलनम्। अपने अनुकूल कार्य ना होना अनिष्टसम्प्रयोग कहलाता है। अपने प्रिय जनों से वाद-विवाद हो जाना आदि सब अनिष्टसम्प्रयोग है। इन सब कारणों से दुःख उत्पन्न होता है। और ये सब अन्तःकरण के धर्म हैं।

क्षुत्पिपासे प्राणधर्मा- जीवन धारण के लिए भूख और प्यास मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। वो कष्टदायी हैं।

जरामृत्युरोग-

जरा मृत्यु रोग के विषय में गीता में कहा गया है- जैसे जीवात्मा की इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है। और भी –

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥⁴¹

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।⁴²

अर्थात् जिनका अन्त होता है- विनाश होता है वे सब अन्त वाले हैं। जैसे मृगतृष्णादि में रहनेवाली जलविषयक सत्-बुद्धि प्रमाण द्वारा निरूपण की जाने के बाद विच्छिन्न हो जाती है वही उसका अन्त है, वैसे ही ये सब शरीर अन्तवान् हैं तथा स्वप्न और माया के शरीरादि की भाँति भी ये सब शरीर अन्तवाले हैं। इसलिए नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर विवेकी पुरुषों द्वारा नाशवान् कहे गये हैं। जैसे – शरीर जलकर भस्मीभूत हुआ अदृश्य होकर भी नष्ट हो गया ऐसा कहलाता है और रोगादि से युक्त हुआ विपरीत परिणाम को प्राप्त होकर विद्यमान रहता हुआ भी 'नष्ट हो गया' कहलाता है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च।⁴³

इस मान्यता के अनुसार जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, प्रिय जनों एवं प्रिय वस्तुओं से बिछुड़ने, अप्रियजनों एवं घटनाओं से मुठभेड़, भूख-प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग और शोक इत्यादि से यह शरीर पीड़ित होता रहता है — इसलिए कामोपभोग से प्राणी का भला क्या वास्तविक कल्याण हो सकता है ?

⁴¹ गीता. २. १३

⁴² भ.गी. २. १८

⁴³ वही. २. २७

शरीर के प्रति अनासक्ति

भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदुषिकाविण्मूत्रवातपित्तकफसङ्घा-ते दुर्गन्धे
निःसारेऽस्मिन्शरीरे किं कामोपभोगैः?

अर्थात् भगवान्! यह शरीर हड्डी, चमडी, नस, नाडियों, मज्जा, मांस, शुक्र, रक्त, श्लेष्मा (नासिकागत दुर्गन्धित प्रवाहजन्यमल), आँख के कीचड़, मल, मूत्र, वात, पित्त और कफ का सम्मिलित रूप है। साथ ही दुर्गन्धित और निःसार भी है इसलिए कामनाओं के उपभोग से भला क्या लाभ हो सकता है?

योगदर्शन में भी कहा गया है-

स्थानाद्वीजादुपष्टम्भानिःस्यदान्निधनादपि।

कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥⁴⁴

अर्थात् गर्भाशय में उत्पन्न होने से, रजवीर्य से बना होने से, खाये हुए पदार्थों से निर्माण होने से, हर क्षण मल निकलता रहने से, मृत्यु होने पर अपवित्र हो जाने से तथा हर समय शुद्धि की अपेक्षा रहने के कारण इस शरीर को बुद्धिमान लोग अपवित्र कहते हैं।

भट्टहरि वैराग्यशतक में कहते हैं-

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती,

रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।

आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो,

लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्॥⁴⁵

⁴⁴ योगदर्शन व्यासभाष्य. २-५

⁴⁵ वैराग्य शतक. श्लो. ९६

अर्थात् शेरनी के समान भयभीत करने वाला बुढ़ापा सामने खड़ा है, अनेक प्रकार के रोग शत्रुओं के समान शरीर पर आक्रमण कर रहे हैं, और फूटे हुए घड़े में से जैसे निरन्तर पानी रिसता रहता है, ऐसे ही आयु क्षीण होती जा रही है, अहो! कितने आश्चर्य की बात है कि लोग फिर भी पाप कर्मों में लगे हुए हैं।

आयुर्वेदीय चिकित्सा में शरीर में उपलब्ध होने वाले सभी द्रव्यों को आचार्यों ने तीन वर्गों में समाविष्ट किया है। जो इस प्रकार है-

1. दोषवर्ग
2. धातुवर्ग
3. मलवर्ग

इन्हीं तीन स्तम्भों पर शरीररूपी अगर अवलम्बित है। कहा भी गया है-

दोषधातुमलमुलं हि शरीरम्।⁴⁶

शरीरदोष तीन है – १.वात २.पित्त ३.कफ।

वातादि की विभिन्न संज्ञाएँ –

- वात-पित्त-कफ जब विकृत होते हैं, तो अन्य धातुओं, उपधातुओं और मलों को दूषित करते हैं, इसलिए इनको दोष कहा जाता है।
- जब ये साम्यावस्था में रहते हैं, तो शरीर को धारण करते हैं, इसलिए धातु कहलाते हैं।
- जब वात-पित्त-कफ शरीर के लिए अनुपयुक्त और त्याज्य होते हैं, तो शरीर को मलिन बनाने के कारण ये मल कहे जाते हैं।

इसप्रकार ये तीन दोष, धातु तथा मल इन तीनों से नामों से व्यवहृत होते हैं।

वात-पित्त-कफ की निरुक्ति

⁴⁶ सु.सू १५.२

वात – “वाति इति वायुर्वातो वा”। जो शरीर में गति और उत्साह उत्पन्न करे, उसे वायु कहते हैं। “वा गतिगन्धयोः”⁴⁷ (अदादि) धातु से कृदन्त तन् प्रत्यय करने पर वात शब्द बनता है। गति के तीन अर्थ होते हैं – गमन ,ज्ञान और प्राप्ति। गन्धन का अर्थ उत्साह है। वात वायुमहाभूत का प्रतीक है।

पित्त – “तपति इति पित्तम्”। तप सन्तापे (भ्वादि) धातु से कृदन्त प्रत्यय होकर पित्त शब्द बनता है।⁴⁸ पित्त अग्निमहाभूत का प्रतीक है। इसमें सत्वगुण की अधिकता होती है।

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति।

जैसे- पाचन ,रूपग्रहण,प्रकाशन,ऊष्मा,रसरञ्जन आदि शारीरिक तथा मेधा –शौर्य-हर्ष आदि मानसिक कर्म पित्त द्वारा सम्पादित होते हैं।

श्लेष्मा- “श्लिष्यति इति श्लेष्मा”। “श्लिष् आलिङ्गने” (दिवादि धातु) से कृदन्त प्रत्यय होने पर श्लेष्मा शब्द बनता है। जो जल से उत्पन्न होता है ,उसे कफ कहते हैं, यथा – केन जलेन फलति निष्पद्यते इति कफः। यह जलमहाभूत तथा तमोगुणप्रधान है।

धातु –

सप्त धातु है- रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र। जैसे – वात-पित्त-कफ के दोष में क्षय-स्थान और वृद्धि होती रहती है,वैसे ही सप्त धातुओं में भी रहती है।

धातुओं के प्राकृत कर्म

⁴⁷ सु.सू. २१.४

रस –

रसस्तुष्टिंप्रीणनं रक्तपुष्टिं च करोति।⁴⁹

प्रथम धातु- रस-तुष्टि,प्रीणन और रक्त का पोषण करता है। प्रीणन का अर्थ तृप्ति है। सभी धातुओं में तृप्ति करना रस का कार्य है। सुश्रुत कहते हैं कि हृदय से चौबीस ऊर्ध्वग, अधोग और तीर्यग्गामिनी धमनियों में पहुँच कर यह रस शरीर के अणु – परमाणुओं तक पहुँच कर शरीर का पोषण करता है, वर्धन शरीर को बढ़ाने का कार्य करता है।

रस-क्षय के लक्षण – रसक्षये हृत्पीडा,कम्पः शून्यता तृष्णा च।⁵⁰

रक्त - रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च।⁵¹

रक्त वर्ण का प्रसादन करता है। त्वचा के रंग को निखारता है। मांस को पुष्ट करता है। अन्य धातुओं की पुष्टि भी रक्त से ही होती है। शरीर का मूल रक्त है। वह अग्नि को प्रदीप्त कर आहार का पचन करता है।

रक्त क्षय के लक्षण – रक्तक्षय में त्वचा में परुषता उत्पन्न होती है। शरीर में थकावट होती है। धमनियों में शैथिल्य होता है।

मांस – मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च।⁵²

मांस शरीर में व्यापक धातु है। वाग्भट ने इसका श्रेष्ठ कर्म लेप बताया है। मांस का ही उपधातु वसा और त्वचा कहा गया है। वसा शरीर का एक उत्कृष्ट स्नेह द्रव्य है, जो बलोत्पादक है और त्वचा सर्वांग को आवरण लेपन का कार्य करती है।

⁴⁹ सु.सू. १५.-६

⁵⁰ वही-१५-१०

⁵¹ वही-१५-५

⁵² वही. १५-५

मांस क्षय के कारण- चरकानुसार विशेषतः नितंब, गर्दन और पेट में शुष्कता आती है। मांसपेशी के कार्य का क्षय होता है। पेशीयों में थकावट उत्पन्न होती है और शोष होता है।

मेद -

मेद की पुष्टी मांस द्वारा ही होती है। मेद अस्थि धातु का पोषण करता है। शरीर को स्नेहयुक्त रखना मेद का श्रेष्ठ कार्य है। मेद से स्वेद की उत्पत्ति होती है। शरीर की दृढता मेद के कारण होती है।⁵³

मेद क्षय के लक्षण – मेदक्षय होने पर संधियों का टूटना, आंखों में निष्प्रभता, त्वचा, केश, कर्ण आदि की रक्षता, पेट का छोटा होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

अस्थि –

अस्थियों के द्वारा देह का धारण और मज्जा की पुष्टि की जाती है। उपवास अथवा जर्जर शरीर में भी त्वचा, रक्त, मांस इत्यादि का क्षय होने पर भी अस्थि का न तो क्षय होता है और न ही वे जर्जर होते हैं।

अस्थि क्षय के लक्षण – अस्थियों में तोड़, संधियों में शिथिलता, केश, श्मश्रु, दांत, नख, रोम इत्यादि का पतन, गात्रों की रक्षता, परुषता आदि अस्थिक्षय के लक्षण हैं।⁵⁴

मज्जा - “मज्जास्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थनां च करोति”।⁵⁵

⁵³ कायचिकित्सा १० अध्याय पृ. २७५

⁵⁴ वही. पृ. २७६

⁵⁵ सु. सू. १५-५

वाग्भट ने मज्जा का श्रेष्ठ कर्म पूरण दिया है, वह अस्थिपूरण है। मस्तिक में कपालास्थि के मज्जा द्वारा यही श्रेष्ठ कर्म होता है।

मज्जाक्षय के लक्षण – मज्जाक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थि शून्यता ।

मज्जाक्षय होने पर शुक्र की अल्पता होती है क्योंकि शुक्र की पुष्टि मज्जा का कार्य है। बल का क्षय होता है।

शुक्र – शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं (करोति) बीजार्थं च।⁵⁶

शुक्र मनुष्य के मन में धैर्य उत्पन्न करता है। शुक्र प्रीति का उत्पादक है। उत्साह को बढ़ाता है। हर्ष आनंदोत्पादक है।

शुक्र क्षय के कारण - शरीर में दुर्बलता, मुखशोष, पांडुता, अंगशैथिल्य, शरीर में पीडन, क्लीबता वीर्य के साथ रक्तस्राव होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

सर्वं चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथमे

दंशमशकादयस्तृणवनस्पतयोद्भूतप्रध्वंसिनः ॥

और पुनः हम देखते हैं कि यह सब नश्वर है। जैसे ये कीड़े-मकोड़े बिच्छू और मच्छर इत्यादि तथा घास-फूस एवं वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं।

2.6 भारत के तात्कालीन सम्राटों का परिचय

मैत्रायणीय-आरण्यक में तत्कालीन भारत के अनेक प्रतापी सम्राटों के नाम प्राप्त होते हैं-

⁵⁶ वही १५-५

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित्
सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवल्याश्वयौवनाश्ववध्यश्वाश्वपतिशशबिन्दुर्हरिश्चन्द्राम्बरीषननक्तुशर्यातिय
यात्यनरण्यक्षसेनादयः ।

अथवा इनसे क्या ! इन की ही बात क्यों की जाये, क्योंकि ये तो छोटी छोटी चीजें हैं । दूसरे
अर्थात् बड़े-बड़े लोगों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे - अन्य बड़े-बड़े धनुर्धर चक्रवर्ती हुए हैं
- उनमें से कुछ ये हैं- सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवल्याश्व, यौवनाश्व, वध्यश्व, अश्वपति,
शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, नहुष, शर्याति, ययाति, अनरणि और अक्षसेन इत्यादि।

अथ मरुत्तभरतप्रभृतयो राजानोमिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्तत्वाऽस्माल्लोकादमुं
लोकं प्रयाता इति।

इसके अनन्तर मरुत्त और भरत इत्यादि राजागण बन्धुजनों के कारण बहुत बड़ी लक्ष्मी का
परित्याग करके इस लोक से परलोक को चले गये। अर्थात् मृत्युलोक के प्राणी होने कारण मृत्यु
तो होनी ही थी।

मरुत्त - नामक राजा का उल्लेख ऐत.ब्रा.तथा शत.ब्रा.में भी है। आचार्य रामतीर्थ के अनुसार
संवर्तक योगी ने मरुत्त से यज्ञ कराया था।

भरत – शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा भरत दुष्यन्त के पुत्र है।

“तेन हैतेन भरतो दौषन्तिरीजे”⁵⁷

भूरिद्युम्न- महाकाव्य महाभारत के अनुसार यम की सभा के एक राजा का नाम था।⁵⁸

⁵⁷ शत.ब्रा.१३.५.४.११

⁵⁸ महाभारत शब्दकोश- पृ.८५ लेखक-एस.पी.परमहंस,प्रकाशक- दिल्ली सदन पुस्तकालय

हरिश्चंद्र- इक्ष्वाकु वंश में त्रिशंकु नामक राजा तथा उनकी पत्नी सत्यवती के पुत्र का नाम हरिश्चंद्र ने समस्त पृथ्वी को जीतकर राजसूय यज्ञ किया। ऐसा उल्लेख महाभारत के सभापर्व में प्राप्त होता है।⁵⁹

शर्याति –

वैवस्वत मनु के 10 पुत्रों में से एक थे। इनकी सुकन्या नामक पुत्री तथा आनर्त नामक दो जुड़वा संताने हुई थीं। शर्याति के पुत्र आनर्त के नाम पर काठियावाड़ और उसके समीप कुछ प्रदेश का नाम आनंत प्रसिद्ध हुआ था। शर्याति की पुत्री सुकन्या का विवाह प्रसिद्ध ऋषि च्यवन से हुआ था। लंबे समय तक निश्चल रहकर एक ही स्थान पर बैठकर च्यवन तपस्या में लीन रहे थे, जिस कारण का उनका शरीर घास और लताओं से ढक गया तथा चींटियों ने उनकी देह पर अपना निवास बना लिया था। वह देखने में मिट्टी का टीला-सा जान पड़ते थे।

एक दिन शर्याती की पुत्री सुकन्या अपनी सखियों के साथ टहलती हुए च्यवन मुनि के स्थान पर जा पहुंची। वहां पर मिट्टी के टीले में चमकते दो चित्रों को देखकर वह चकित रह गई और कोतुहल वंश देह को बांबी समझ कर उन छिद्रों को कुरेदने लगी। शर्याती की पुत्री सुकन्या के इस कृत्य से ऋषि की आंखों से रक्त की धारा बहने लगी और ऋषि च्यवन अंधे हो गए। च्यवन ऋषि क्रोधित होकर शर्याती के परिवार तथा उनके अनुचरों को मल-मूत्र रुक जाने का श्राप देते हैं। शर्याति इस घटना से दुःखी होकर च्यवन से विनय-निवेदन करते हैं। क्षमा याचना स्वरूप अपनी पुत्री को उनके सुपुर्द कर देते हैं। इस प्रकार सुकन्या का विवाह च्यवन ऋषि से हो जाता है।

ययाति-

चन्द्रवंशी वंश के राजा नहुष के छः पुत्रों याति, ययाति, सयाति, अयाति, वियाति तथा कृति में से एक थे। याति राज्य, अर्थ आदि से विरक्त रहते थे इसलिये राजा नहुष ने अपने द्वितीय

⁵⁹ महा.सभा.१२.१०-१९

पुत्र ययाति का राज्यभिषेक करवा दिया। ययाति का विवाह शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी के साथ हुआ। देवयानी के साथ उनकी सखी शर्मिष्ठा भी ययाति के भवन में रहने लगी। ययाति ने शुक्राचार्य से प्रतिज्ञा की थी कि वे देवयानी से भिन्न किसी ओर नारी से शारीरिक सम्बन्ध नहीं बनाएंगे। एकबार शर्मिष्ठा ने कामुक होकर ययाति को मैथुन प्रस्ताव दिया। शर्मिष्ठा की सौंदर्य से मोहित ययाति ने उसका सम्भोग किया। इस तरह देवयानी से छुपाकर शर्मिष्ठा एवं ययाति ने तीन वर्ष बीता दिए। उनके गर्भ से तीन पुत्रलाभ करने के बाद जब देवयानी को यह पता चला तो उसने शुक्र को सब बता दिया। शुक्र ने ययाति को वचन भंग के कारण शुक्रहीन वृद्ध होने का श्राप दिया। ययाति की दो पत्नियाँ थीं। शर्मिष्ठा के तीन और देवयानी के दो पुत्र हुए। ययाति ने अपनी वृद्धावस्था अपने पुत्रों को देकर उनका यौवन प्राप्त करना चाहा, पर पुरु को छोड़कर और कोई पुत्र इस पर सहमत नहीं हुआ। पुत्रों में पुरु सबसे छोटा था, पर पिता ने इसी को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और स्वयं एक सहस्र वर्ष तक युवा रहकर शारीरिक सुख भोगते रहे। तदनंतर पुरु को बुलाकर ययाति ने कहा - 'इतने दिनों तक सुख भोगने पर भी मुझे तृप्ति नहीं हुई। तुम अपना यौवन लो, मैं अब वानप्रस्थ आश्रम में रहकर तपस्या करूँगा।' फिर घोर तपस्या करके ययाति स्वर्ग पहुँचे, परंतु थोड़े ही दिनों बाद इन्द्र के शाप से स्वर्गभ्रष्ट हो गए। अंतरिक्ष पथ से पृथ्वी को लौटते समय इन्हें अपने दौहित्र, अष्ट, शिवि आदि मिले और इनकी विपत्ति देखकर सभी ने अपने अपने पुण्य के बल से इन्हें फिर स्वर्ग लौटा दिया। इन लोगों की सहायता से ही ययाति को अंत में मुक्ति प्राप्त हुई।⁶⁰

ययाति ग्रंथि वृद्धावस्था में यौवन की तीव्र कामना की ग्रंथि मानी जाती है। किंवदंति है कि, राजा ययाति एक सहस्र वर्ष तक भोग लिप्सा में लिप्त रहे किन्तु उन्हें तृप्ति नहीं मिली। विषय वासना से तृप्ति न मिलने पर उन्हें उनसे घृणा हो गई और उन्होंने पुरु की युवावस्था वापस

⁶⁰ महाभारत आदिपर्व. ८१-८८

लौटा कर वैराग्य धारण कर लिया। ययाति को वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने कहा-

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः

तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।

कालो न यातो वयमेव याताः

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥⁶¹

अर्थात्, हम सांसारिक विषय भोगों का उपभोग नहीं कर पाये, अपितु उन भोगों को प्राप्त करने की चिन्ता ने हम को भोग लिया। हमने तप नहीं किया, बल्कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक ताप हम को ही जीवन-भर तपाते रहे। भोगों को भोगते-भोगते हम काल को समाप्त नहीं कर पाये, प्रत्युत काल ने हम को ही नष्ट कर दिया। इसी प्रकार भोगों को प्राप्त करने स्वरूप तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, पर हम ही जीर्ण हो गये।

-----*****-----

⁶¹ वैराग्यशतक, श्लोक. १२

तृतीय अध्याय

ब्रह्मविद्याविमर्श

3.1 ब्रह्मविद्या (रहस्य विद्या) विमर्श

3.2 ब्रह्मविद्या : अन्य तन्त्रों में स्थिति व तुलनात्मक अध्ययन

3.3 सृष्टि प्रक्रिया

3.4 वैश्वानर

3.1 ब्रह्मविद्या (रहस्य विद्या) विमर्श

महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वज! शीघ्रमात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नेति विश्रुतोऽसीति। अयं वाव खल्वात्मा ते यः कतमो भगवा इति तं हो वाचेति॥

इसके पश्चात् अतिप्रसन्न भगवान् शाकायन्य राजा बृहद्रथ से बोले – इक्ष्वाकुवंश की पताकास्वरूप हे महाराज बृहद्रथ! तुम तो मरुत- वायु महारथी के नाम से विख्यात हो, शीघ्र ही तुम आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करके कृतकृत्य होगे। यह तुम्हारी आत्मा ही है जो सर्वस्व स्वरूप है।

इस पर राजा ने तुरंत पूछा भगवन् कौन सी आत्मा है? अभिप्राय यह है कि शरीर ,इन्द्रिय,मन, बुद्धि और प्राण में से ही कोई आत्मा है या इनसे विलक्षण कोई तत्व है? उन राजा से उन शाकायन्य ने कहा है।

अथ य एष उच्छ्वासाविष्टम्भेनोर्ध्वमुत्क्रान्तो व्ययमानोऽव्ययमानस्तमः प्रणुदत्येषु आत्मा॥

विविधमयमानो नानावासनावासितान्तकरणविकाराननुभवैस्तत्तदात्मना विप्रसृत इव
भासमानोऽपि परमार्थतो निश्चल एव

अर्थात् अभिप्राय यह है कि आत्मा ऊपर से अनेक संस्कारों से ग्रस्त होने के कारण उस प्रकार की प्रतीति अवश्य होती है, लेकिन वास्तव में वह स्थिर स्वरूपवाली ही है। इस व्याख्या पर वेदान्त के परवर्ती ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का निश्चित ही विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्नास्माकं भगवता मैत्रिणाऽख्याताऽहं ते कथयिष्यामीति। अथापहतपाप्मानस्तिग्मतेजसा ऊर्ध्वरितसो वालखिल्या इति श्रूयन्ते।

राजन्! यह आत्मतत्त्वज्ञान ब्रह्म विद्या है अथवा सभी उपनिषदों में निरूपित विद्या है हमारे प्रति इसका प्रतिपादन हमारे गुरु भगवान् मैत्रि ने किया है। मैं तुम्हें वही बतलाऊंगा। सुना जाता है कि ऋषि वालखिल्य नष्ट हुए पापों वाले, तीव्र तेज से युक्त तथा ऊर्ध्वरिता अर्थात् ब्रह्मचारी है।

भगवञ्शकटमिवाचेतनमिदं शरीरं कस्यैष खल्वदृशो महिमातीन्द्रियभूतस्य येनैतद्विधमेतच्चेतनवत्प्रतिष्ठितं प्रचोदयिता वाऽस्य यद्भगवान वेत्ति तदस्माकं ब्रूहीति तान् होवाचेति॥

उन्होंने क्रतु नामक प्रजापति से कहा – भगवन्! यह शरीर अर्थात् छकडे के समान अचेतन है। किस अतीन्द्रिय तत्व की ऐसी महिमा है, जिसने इस प्रकार के अचेतन शरीर को चेतन की तरह प्रतिष्ठापित कर दिया है। इसे प्रेरित करके संचालित करने वाला तत्व कौन सा है- भगवन! यदि आप इस रहस्य को जानते हो तो, तो हमें बतलाइए। उन वालखिल्य ऋषियों से उन्होंने कहा।

यो ह खलु वावोपरिस्थः श्रुयते।

यहाँ पर ह, खलु, वाव निपात है। उपरिस्थः के दो अर्थ हैं- निष्प्रपञ्च रूप में अवस्थित तथा दूसरे प्रपञ्च से अनुगत होने पर भी प्रपञ्चातीत है। जो सम्पूर्ण प्रपञ्च से परे निष्प्रपञ्च स्वरूप में

अवस्थित होने कारण सर्वोपरि स्थित सुना जाता है। कहा गया है - वृक्षैव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। श्रुत्यन्तर इत्यर्थः।

गुणेष्विवोर्ध्वरेतसः स वा एषः शुद्धः पूतः शून्यः शान्तोऽप्राणो निरात्माऽनन्तोऽक्षयः स्थिरः शाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः॥

जैसे-ऊर्ध्वरेता योगी विषयों में रहने पर भी उनसे उपर ही है, वही वह शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त प्राणहीन, निरात्मा, अनन्त, अक्षय, स्थिर, शाश्वत, अजन्मा और स्वतन्त्र रूप से अपनी महिमा में स्थित है। ऊर्ध्वरेतस अर्थात् जो अपने प्राणों को उर्ध्व दिशा की ओर प्रवृत्त करते है। शुद्ध- जिसमें किसी भी प्रकार से पापों का संयोग नहीं है। जो राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ मोह आदि दुर्गुणों से रहित है। यह अविद्या रूपी मल से रहित होने के कारण शुद्ध व निर्मल है, जिस पदार्थ में अशुद्धि होती है उसका संस्कार किया जाता है, तथा आत्मा तो शुद्धत्व है, तो उसका किसी प्रकार से संस्कार नहीं किया जा सकता है।

पूतः- पावयति पुनातीति वा पूतः कर्तरि निष्ठा कर्मणि। शून्यो निष्प्रपञ्चः।

शान्तः – निर्विकार विकार से रहित, कूटस्थ उदासीन।

अप्राणः – प्राणादि धर्म से रहित, निरात्मा- यहाँ पर आत्मा का अभिप्राय मन से है, मन से रहित अर्थात् सङ्कल्पाध्यवसायादिधर्मों से रहित, अनन्त- विनाश से रहित, अक्षय- जिसका क्षय न हो, स्थिर- वृद्धि आदि से रहित, शाश्वत- सर्वदा एकरूप विपरिणामशून्य, अज- जन्मादि से रहित, स्वतन्त्र- अस्तित्व विकार से रहित।

बृहदारण्यक उपनिषद में कहा है-

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरोयमत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।¹

¹ बृहद.आ. ३.७.१५

अर्थात् जो सब प्राणधारियों में रह कर समस्त भूतों के भीतर है जिसको सब प्राणी नहीं जानते जिसका शरीर समस्त भूत है, जो समस्त भूतों के भीतर रह कर भी सब भूतों को मर्यादा में रखता है यह आत्मा अन्तर्यामी और अमर है। जो प्राण में, प्राणवायु सहित घ्राणिन्द्रिय में, जो वाणी में, नेत्र में, श्रोत्र में, मन में, त्वक् में, विज्ञान यानी बुद्धि में तथा रेत में, -प्रजननेन्द्रिय में रहनेवाला है। किन्तु पृथिवी आदि के देवता बड़े प्रभावशाली होने पर भी मनुष्यादि के समान अपने भीतर रहनेवाले अपने नियामक अन्तर्यामी क्यों नहीं जानते ? इस याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि -वह अदृष्ट-न देखा हुआ अर्थात् किसी की भी नेत्रदृष्टि का विषयीभूत नहीं है, किन्तु स्वयं नेत्रमें सन्निहित होने कारण दर्शनस्वरूप है, इसलिए द्रष्टा है। इसीप्रकार वह अश्रुत - किसी के भी श्रोत्रकी विषयता को अप्राप्त किन्तु स्वयं जिसकी श्रवण शक्ति लुप्त नहीं होती -ऐसा है और समस्त श्रोत्रों में सन्निहित होने कारण श्रोता है, ऐसे ही वह अमृत मन के संकल्पों की विषयता को अप्राप्त है, क्योंकि सब लोग देखे -सुने पदार्थों का ही संकल्प करते हैं, अतः अदृष्ट और अश्रुत होने कारण ही वह अमृत है, तथा मनन शक्ति लुप्त न होने से और समस्त मनों में सन्निहित होने के कारण वह मन्ता है। इसी तरह अविज्ञात रूपादि के समान निश्चय की विषयता को प्राप्त किन्तु स्वयं जिसकी विज्ञान शक्ति लुप्त नहीं है- ऐसा एवं बुद्धि में सन्निहित होने के कारण विज्ञाता है। यहाँ जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसे भूत नहीं जानते इत्यादि कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि जिनका नियमन किया जाता है, वे विज्ञाता भिन्न हैं। जिससे भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, और विज्ञाता नहीं है, जो दिखायी न देनेवाला किन्तु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला, किन्तु सुननेवाला है, मन का अविषय किन्तु मनन करनेवाला है, स्वयं अविज्ञात किन्तु विज्ञाता है तथा अमृत सम्पूर्ण संसारधर्मों से रहित एवं समस्त संसारियों के कर्मफलों का विभाग करने वाला है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इस ईश्वर आत्मा से भिन्न और सब विनाशी है।

इस प्रकार आत्मा कहाँ रहता है तब कहते हैं-

स्वे महिम्नि तिष्ठत्यजेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषाऽप्यस्येति।

ऐसा ही प्रसंग छान्दोग्योपनिषद में नारद जी सनत्कुमार से पूछते हैं वह अपनी महिमा में किस प्रकार स्थित रहता है तब सनत्कुमार कहते हैं-

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ
यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः
कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति॥²

जिसमें अन्यको नहीं देखता है अन्यको नहीं सुनता है अन्यको नहीं जानता है वह निरातिशय है। और जिसमें और को देखता है और को सुनता है और को जानता है वह अल्प है जो निरतिशय है वह अमृत हैं और जो अल्प है वह नाशवान है ऐसा कहने पर हे भगवान वह किस में स्थित है?

भावार्थ - जिस तत्व में अन्य अन्य से अन्य को नहीं देखता है, अन्य को नहीं सुनता है, अन्य का मनन नहीं करता है और अन्य को विशेष रूप से नहीं जानता है। अर्थात् जो संसार के सकल व्यवहार से रहित है वह भूमा है और जिस अविद्या में अन्य अन्य से अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्य का मनन करता है और अन्य को विशेष रूप से जानता है अर्थात् जिसमें दर्शन आदि संसार का व्यवहार है वह अल्प है अज्ञानकाल में रहने वाला है और इसीकारण वह स्वप्न के पदार्थ के समान नाशवान है, उससे विपरीत जो प्रसिद्ध भूमा है वह अविनाशी है और जो परिच्छिन्न है वह विनाशी है, ऐसा सनत्कुमार जी ने कहा-तब नारद जी ने पूछा कि हे भगवान! भूमा किस में स्थित है ? सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि हे नारद! यदि व्यवहारदृष्टि से समझते हो तो वह अपनी विभूति में स्थित है और परमार्थदृष्टि से जानते हो तो वह विभूति में स्थित नहीं है, किंतु आश्रय रहित है।

² छा.उप. ७.२४

तात्पर्य यह है कि आत्मा रागादि से अकलुषित, निर्विकार, प्राणनक्रिया से रहित, सङ्कल्प इत्यादि व्यवसायों से रहित तथा अपक्षय से परे है।

ते होचुर्भगवन्कथमनेनेदृशेनानिष्ठैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽस्य कथमिति तान् होवाच॥४

पुनः उन वालखिल्य ऋषियों ने पूछा- भगवन्! इस अनासक्त तथा सूक्ष्म तत्व ने इस प्रकार के अर्थात् अचेतन शरीर को चेतन शरीर के समान कैसे प्रतिष्ठापित कर दिया? वह इसका प्रेरक कैसे है? तब उन ऋषियों से भगवान् मैत्री ने कहा-

स वा एष सूक्ष्मोऽग्राह्योऽदृश्यः। पुरुषसंज्ञोऽबुद्धिपूर्वमिहैवाऽवर्ततेऽशेनेति।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह³

अर्थात् जहाँ से वाणी मन सहित लौटकर आ जाती है। उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला पुरुष कभी भय को प्राप्त नहीं होता। यह जो मनोमय शरीर है अर्थात् प्राणमय शरीर में रहनेवाला आत्मा है। यह जो मनोमय है। उस इस मनोमय से दूसरा इसका अन्तर आत्मा विज्ञानमय है अर्थात् मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश है। उसके द्वारा यह पूर्ण है। वह यह विज्ञानमय भी पुरुषाकार ही है। उस मनोमय की पुरुषाकारता के अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है।

गीता में भी आत्मा के विषय में कहा गया है-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मा के विषय में बताते हुए कहते हैं-कि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल,

³ तै.उ.२.४.१

स्थिर रहने वाला और सनातन है। और यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है।⁴

केनोपनिषत् में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में प्रश्नोत्तर की शैली में परमतत्त्व ब्रह्म की विशेषताओं तथा अनुभूति का वर्णन किया गया है। किस तत्त्व से सत्ता प्राप्त करके और प्रेरित होकर यह मन अपने विषयों से सलग होता है? किससे नियुक्त होकर यह सर्वश्रेष्ठ होकर यह सर्वश्रेष्ठ प्राण गीत करता है, अर्थात् चलता है? किसके द्वारा गतिशील बनाई हुई इस वाणी को लोग बोलते हैं? और कौन प्रसिद्ध देव नेत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय को अपने-अपने विषय के अनुभव में लगाता है अर्थात् नियुक्त करता है?

जो तत्त्व मन का भी मन कारण है; प्राण का भी प्राण है; वाणी की भी वाणी है; श्रोत्रेन्द्रिय का भी श्रोत्र है और चक्षुरिन्द्रिय का भी चक्षु है, वही इस समस्त जगत का प्रेरक परमात्मा है। ज्ञानी लोग उसको पहचान कर जीवन्मुक्त होकर इस मर्त्यलोक से चले जाने के बाद अर्थात् मृत्यु के बाद अमर जन्ममरणरहित हो जाते हैं। वहाँ उस ब्रह्म तक न तो चक्षुरिन्द्रियादि इन्द्रियाँ ही पहुँच सकती हैं, न ही वागिन्द्रिय आदि कर्मेन्द्रियाँ भी पहुँच सकती हैं और मन भी तो नहीं पहुँच पाता, इसलिए इस ब्रह्म के स्वरूप को, 'यह ऐसा है'- हम अपनी बुद्धि से भी नहीं पहचान पाते और दूसरों से सुनकर भी नहीं समझ पाते। क्योंकि-"ब्रह्मतत्त्व जाने हुए सभी ज्ञेय पदार्थों से बिल्कुल अलग ही है और साथ ही साथ इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाने गए पदार्थसमुदाय से भी उत्तम ही है"।

ऐसा अपने पूर्वाचार्यों के मुख से हम सुनते आये हैं। उन्होंने हमें यह ब्रह्मतत्त्व अच्छी तरह से स्पष्ट करके समझाया था। जो ब्रह्म वाणी द्वारा बताया नहीं गया है, पर वाणी ही जिसके द्वारा

⁴ गीता २.२३-२४

बोली जा सकती है, उसी को तूम जानो। वाणी के द्वारा बताए गये जिस तत्त्व की लोग उपासना करते है, वह ब्रह्म नहीं है। जिस ब्रह्मतत्त्व को कोई भी मनुष्य मन से अंतःकरण से समझ नहीं पाता, परन्तु "मन ही जिसके द्वारा जाना समझा जा सकता है"-ऐसा कहा जाता है, वही ब्रह्म है, ऐसा तुम जानो! मन और बुद्धि के द्वारा पहचाने जानेवाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते है, वह ब्रह्म नहीं है। जिस ब्रह्मतत्त्व को कोई आँखों से देख नहीं पाता, परन्तु आँखें ही जिसके द्वारा देखी जाती है, वही ब्रह्म है, ऐसा तुम जानो। जिसके होने से ही आँखें अपने विषयों को देख सकती है, वही ब्रह्म है। चक्षुओं के द्वारा दिखाई देने वाले जिस दृश्य समुदाय की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

जिस ब्रह्मतत्त्व को कोई भी मनुष्य अपने कानों से नहीं सुन सकता, परन्तु जिसके द्वारा ही यह श्रोत्रेन्द्रिय सुनी जा सकती है अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय में सुनने की शक्ति आती है, उसी को तुम ब्रह्मरूप में जानो।

जो लोग श्रोत्रेन्द्रिय से जानने लायक पदार्थों के समूह की उपासना करते है, वह श्राव्य पदार्थ समूह ब्रह्म नहीं है। जो ब्रह्मतत्त्व प्राणों से चेष्टायुक्त नहीं होता, परन्तु प्राण ही जिसके द्वारा चेष्टित होता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो। प्राणों के द्वारा चेष्टित किए जाने वाले पदार्थसमूह की लोग उपासना करते हैं पर वह ब्रह्म नहीं है।

3.2 ब्रह्मविद्या : अन्य तन्त्रों में स्थिति व तुलनात्मक अध्ययन तस्माविद्यया तपसा चिन्तया

चोपलभ्यते ब्रह्म

आचार्य रामतीर्थ के अनुसार – विद्या तपस् और विचार में सर्वप्रथम तप को रखना चाहिए। तप से साधक को ब्रह्मविद्या अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन की प्राप्ति होती है। उसका अभ्यास करने से प्रणव मन्त्र में एकाग्रनिष्ठा होती है और तदनन्तर इन तीनों साधनों से साधक ब्रह्मभाव की उपलब्धि करता है।

जो श्रवण, मनन इत्यादि विधियों के अनुसार ब्रह्म के ज्ञाता है, उनका कथन है कि अखण्ड और सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म है। तपस्या से जिसके पाप नष्ट हो गये हैं, उसे ब्रह्म प्राप्ति के द्वार पर स्थित ही कहा गया है। जो भलीभाँति योग साधना में संलग्न होकर निरन्तर आत्मज्ञान की दिशा में विचार करता रहता है, वह ओङ्कार स्वरूप ब्रह्म की महिमा ही है- ऐसा कहा जाता है। इसलिए यह निश्चित समझना चाहिए कि विद्या, तपस्या और विचार करते रहने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसप्रकार ध्यान करते हुए तत्त्वज्ञानी ब्रह्म के परे अर्थात् हिरण्यगर्भ नामक अथवा शब्दब्रह्म के उस पार पहुँचकर ब्रह्मभाव को पा लेता है और समस्त देवों से देवों का आधिपत्य पा लेता है। जो इस त्रिक अर्थात् विद्या तप और विचार के द्वारा ब्रह्म की उपासना करता है, वह अक्षय, अपरिमित और रोगरहित सुख को प्राप्त करता है। इस अवस्था में पहुँचने पर वह साधक परिपूर्ण अर्थात् पूर्णात्मा होकर ब्रह्म में सायुज्य भाव को प्राप्त करता है। लेकिन इससे पूर्व वह जिस भूतात्म से भाव से अभिभूत है और जिसके कारण उसे इस शरीर रूप रथ की प्राप्ति हुई है, उससे मुक्त हो जाता है।

वाल्खिल्य ऋषि बोले – भगवन्! आप पुनः पुनः अभिवादन के योग्य हैं प्रणम्य हैं। आपने जो कुछ कहा, उसे हमने भलीभाँति यथावत् अपने मन में रख लिया है। अब आप इसके बाद के प्रश्न का समाधान कीजिए। प्रश्न यह है कि-अग्नि, वायु, आदित्य, काल, यम, प्राण, अन्न, ब्रह्मा, रुद्र और

विष्णु- इन देवों में से कुछ लोग एक का ध्यान करते हैं, और अन्य लोग दूसरे का। इनमें से किसका ध्यान करना कल्याणकारी है? यह आप हमें बतलाइये। उन ऋषियों ने प्रजापति से कहा।

ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्।

ये अग्नि इत्यादि देवता वास्तव में उस परब्रह्म, जो सबका परम कारण अर्थात् सर्वाधिष्ठाता, अमृत नित्य और अशरीरी अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त है, उसके ही श्रेष्ठ आकार अथवा स्वरूप है। जो साधक जिस देवता से भक्तिपूर्वक जुड़ा है, वह उसी के लोक में आनन्द प्राप्त करता है। इसी प्रकार से कहा गया है। आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक रूप से स्थित यह समस्त जगत् ब्रह्ममय ही है। साधक को चाहिए कि वह उनका ब्रह्मभाव से ध्यान और अर्चन करे तथा उन्हें मन में छिपाकर रखे। इसके कारण साधक उन-उन देवों के साथ ही क्रमशः जन, तप और सत्यसंज्ञक ऊपर से ऊपर के लोकों में विचरण करता है। तदनन्तर समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर वह परब्रह्म के साथ सायुज्य स्वरूपता एकता को प्राप्त कर लेता है।

वालखिल्य ऋषि का सामान्य परिचय

ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में प्राणों को वालखिल्य कहा है –

प्राणा वै वालखिल्याः।⁵

प्राणानेवैतदुपधावति यद्वालखिल्या नाम।⁶

तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है कि प्रजापति के बालों से वालखिल्य संज्ञक ऋषि उत्पन्न हुए हैं-

स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा शरीरमधूनुत। तस्य यन्मांसमासीत्ततोऽरुणाः केतवो वातरशना ऋषय उदतिष्ठन्। ये नरवास्ते वैखानसा, ये वालास्ते वालाखिल्याः।⁷

⁵ ऐतरेय ब्रा. ६.२६

⁶ शतपथ ब्रा. ८.३.४१

एक ऋग्वेदीय मन्त्र की व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ने बतलाया है कि प्रजापति के शरीर के उत्तरभाग से वालखिल्यादि आठ ऋषि उत्पन्न हुए –

अष्टसंख्यकाः प्रसिद्धाः वालखिल्यादय उत्तरात् कायप्रदेशात् उत्पन्ना बभूवुः।⁸

वाल्मीकीय रामायण के अनुसार ये ऋषि समुद्रतटवर्ती प्रदेश में रहते थे। महाभारत के आदिपर्व में वालखिल्य ऋषियों को अङ्गुष्ठप्रमाण बतलाया गया है। वहीं यह भी कहा गया है कि इनकी संख्या साठ हजार थी। ज्ञात होता है कि ये ऋषि किसी कारणवश इन्द्र से अप्रसन्न थे, इसलिए उन्होंने इन्द्र का अभिमान दमित करने का प्रयत्न किया था। ऋग्वेद के कुछ खिलमन्त्रों को भी वालखिल्य ऋषियों के नाम से सम्बद्ध किया है। इससे ज्ञात होता है कि आध्यात्मिक चेतना के जागरण की दृष्टि से इन ऋषियों का विशेष महत्व रहा है।

3.3 सृष्टि प्रक्रिया –

प्रजापतिर्वा एकोऽग्नेऽतिष्ठत्स नारमतैकः सोऽत्मानमभिध्यात्वा बह्वीः प्रजा असृजत। ता अश्मेवाप्रबुद्धो अप्राणाः स्थाणुरिव तिष्ठमाना अपश्यत्। सा नारभत सोऽमन्यतैतासां प्रतिबोधनायभ्यान्तरं विविशामि। प्रवेशप्रकारमाह- स वायुरिवाऽऽत्मानं कृत्वाऽभ्यन्तरं प्राविशत्।

सृष्टि से पूर्व प्रजापति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा अकेले थे। अकेले रहते हुए उनका मन नहीं रमा। उन्होंने अपनी आत्मा का ध्यान करके बहुत-सी, प्रजा सृष्टि की। उन्होंने देखा कि वे प्रजाएँ पत्थर की तरह प्रबोधरहित और ठूँठ की भाँति प्राणरहित हैं। उन्हें फिर अच्छा नहीं लगा। उन्होंने सोचा कि मैं इन प्रजाओं को जगाने के लिए उनके भीतर प्रवेश करूँ। उन्होंने वायु के सदृश अपना

⁷ तैत्तिरीय आरण्यक.१.२३.३.

⁸ ऋ.१०.२७.१५

स्वरूप बनाकर उनके भीतर प्रवेश किया। वह अकेले नहीं रह सके। उन्होंने अपने को पाँच प्रकार से विभाजित किया। वे पाँच भाग प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान कहलाते हैं।

इनमें से जो उपर उत्क्रमण करता है, वह प्राण है। जो नीचे सङ्क्रमण करता है, वह अपान है। और यह जो इन शिराओं में अभिव्याप्त है, इनका अनुगृहीता है, वह व्यान है और यह जो सर्वाधिक स्थूल धातु है, अन्न को अपान में स्थापित करता है, जो प्रत्येक अङ्ग के केन्द्र में स्थित है। जो सब में समानता लाता है, वह समान संज्ञक वायु कहलाता है।

उदान वायु इन सबके मध्य में उत्पन्न होती है और वह व्यान का ही उत्तर रूप है। और यह जो खाये-पिये अन्न को उगलती और निगलती है, वह ही उदान है।

तदनन्तर जैसे कर्मकाण्ड में उपांशुग्रह और अन्तर्यामि ग्रह परस्पर उपकार्य और उपकारक माने जाते हैं, ठीक उसी प्रकार उपांशुग्रह अर्थात् प्राण और अन्तर्यामिग्रह अर्थात् अपान एक दूसरे को उपकृत करते रहते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषत् में भी कहा गया है कि उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न पैदा हुआ। वह यह पुरुष अन्नमय और रसमय है।⁹

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः” तत्तेजोऽसृजत” तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत इत्यादि। छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा है—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत।

परमात्मा ने संलक्ष्य लिया कि मैं बहुत होऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ। उसने तेज बनाया, उस तेज ने पानी बनाया, जल ने अन्न पैदा किया। फिर उस सत् तत्व ने सोचा कि – अब मैं इन तेज, जल और अन्न में जीव के साथ प्रवेश करके उन्हें अलग-अलग नामवाले और रूपवाले बनाऊँ।

⁹ तैत्तिरीयोपनिषत् २.१.१

तासां त्रिवृत्तं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।

और तीनों देवताओं को तिगुना कर दूँ ऐसा सोचकर उस तत्व ने उन तीनों देवताओं में जीव के साथ प्रवेश किया और उन्हें अलग अलग नामरूप वाला बनाया।¹⁰

ऐतरेयोपनिषत् में कहा है-

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।¹¹

इस जगत् के प्रकट होने से पहले एकमात्र परमात्मा ही था। उस परम पुरुष ने अवश्य ही मैं लोकों का सृजन करूँ- इसप्रकार का विचार किया।

उसने द्युलोक से आरम्भ करके कहा

-स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत।¹²

ऐसा सोचकर उसने इस मनुष्य शरीर की सीमा को चीरकर उसके द्वारा शरीर में प्रवेश किया। यह द्वार विद्वति नाम से प्रसिद्ध है। वही यह आनन्दायक ब्रह्मद्वार है।

वैदिक-ऋषियों की भांति उपनिषदों के ऋषि-मुनियों के समक्ष यही आश्चर्यपूर्ण प्रश्न था की इस सृष्टि का आविर्भाव किससे और कैसे हुआ? और हमारे जीवन और स्थिति का अधिष्ठान क्या है ? इन प्रश्नों में सृष्टि की उत्पत्ति का कारण, स्थिति और संहार विषयक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में असत् से सृष्टि की कल्पना करते हुए कहा गया है की सम्पूर्ण वस्तुओं के आदि में असत् की ही सत्ता थी इससे सत् का उदभव हुआ। सत् ने स्वतः अपना रूप विधान

¹⁰ छान्दोग्योपनिषद् ६.३.३

¹¹ ऐतरेयोपनिषत् १.१.१

¹² ऐतरेयोपनिषत् १.३.१२

किया। इसलिए इसे सुकृत कहते हैं यह सुकृत अर्थात् परब्रह्म ही रस स्वरूप है, यही वास्तविक आनन्द है।¹³

असत् को आदिसत्ता स्वीकार करने की कल्पना का सूत्रपात ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से हो जाता है। सृष्टि के आदि में न असत् की सत्ता थी और न ही सत् की सत्ता। केवल घनान्धकार का ही अस्तित्व था।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है जो एकाकी ही असंख्य जीवों को वश में रखता है और एक बीज को ही विभिन्न रूपों में कर देता है।¹⁴ और इसी उपनिषद् में ब्रह्म को ही सृष्टि रचना करने और उसे विस्तृत करने में समर्थ बताया है। जो अपनी शक्तियों से सब लोकों पर प्रभुत्व रखता है। प्रलय काल के अनन्त तक परमेश्वर ही सृष्टि उत्पत्ति के समय में विभिन्न रूप से प्रकट हो जाता है।

कठोपनिषद् में कहा गया है ब्रह्म की सृष्टि यह सम्पूर्ण विश्व है और उसी में गतिमान है।¹⁵ मुण्डकोपनिषद् में अक्षर ब्रह्म से सृष्टि का वर्णन प्राप्त होता है। जिस तरह मकड़ी जाले को रचती है, फिर निगल जाती है, जैसे पृथ्वी से औषधियाँ निकलती हैं, जैसे जीवित मनष्य के सिर और शरीर से बाल निकलते हैं, उसी तरह सारा विश्व अक्षर से निकलता है।¹⁶

छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख है की प्राण में ही समस्त सत्ताएं प्रवेश करती हैं अतः प्राण ही इनका मूल है और प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है।¹⁷

स एको नाशकस् पञ्चधाऽऽत्मानं विभज्योच्यते। यः प्राणोऽपानः समान उदानो व्यान इति।

¹³ तै.उप. २.७

¹⁴ श्वेता.उप. ६.१२

¹⁵ कठोपनिषद्. २.९

¹⁶ मु.उप. १.७

¹⁷ छा. ५.१.१

अथैषां लक्षणं क्रियाश्च दर्शयति -

अथायं य ऊर्ध्वमुन्नामत्येष वाव स प्राणोऽथ योऽयमवाङ्मसङ्क्रामत्येष वाव सोऽपानोऽथ येन वैताऽनुगृहीतेत्येष वाव स व्यानोऽथ योऽयं स्थविष्ठो धातुरन्नस्यापाने प्रापयत्यणिष्ठो वाऽङ्गोऽङ्गो समानयत्येष वाव स समानसंज्ञा उत्तरं व्यानस्य रूपं चैतेषामन्तरा प्रसूतिरेवोदानस्याथ योऽयपीता शितमुद्गिरति निगिरतीति वैष वाव स उदानः।

श्रुत्यन्तरम्- “अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः।¹⁸

छान्दोग्योपनिषत् में व्यान की उद्गीथ उपासना वर्णन किया गया है। पुरुष जो प्राणन करता है मुख या नासिका द्वारा वायु को बाहर निकालता है वह प्राण है और जो अपश्वास लेता है अर्थात् वायु को भीतर की ओर खींचता है वह अपान है। तथा प्राण और अपान की जो संधि है वही व्यान है। जो व्यान है वही वाक् है। इसी से पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करते हुए वाणी बोलता है। अब उसके तत्व का निरूपण किया जाता है पुरुष जो प्राणन करता है अर्थात् उन मुख और नासिका द्वारा वायु को बाहर निकालता है वह वायु प्राण नामक वृत्तिविशेष है, तथा वह जो अपश्वास करता है, अर्थात् उन मुख और नासिका के ही द्वारा वायु को भीतर खींचता है वह अपान वायु है।

इससे क्या सिद्ध हुआ? यह बतलाया जाता है - उन उपर्युक्त लक्षण वाले प्राण और अपान की जो संधि है उनके बीच का जो वृत्तिविशेष है वह व्यान है। श्रुति द्वारा विशेष रूप से निरूपण किए जाने के कारण यहाँ यह व्यान अभिप्रेत नहीं है जो सांख्यादि शास्त्र में प्रसिद्ध सर्व देहव्यापी ज्ञान है ऐसा इसका तात्पर्य है। किंतु प्राण और अपान को छोड़कर अत्यंत परिश्रम से व्यान की ही उपासना का निरूपण क्यों किया गया?

¹⁸ छा.उप.१.३.३

ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं -क्योंकि यह वीर्यवान कर्म की निष्पत्ति का कारण है। यह वीर्यवान् कर्म की सिद्धि का कारण कैसे हैं? इस पर कहते हैं जो व्यान है, वही वाणी है, क्योंकि वाणी व्यान का ही कार्य है। वाणी व्यान से निष्पन्न होने वाली है, इसलिए लोक प्राणन और अपानन अर्थात् प्राण और अपान की क्रियाएँ न करता हुआ वाणी का अभिव्याहरण -उच्चारण करता हैं।

“ अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः”।¹⁹

छान्दोग्योपनिषत् में कहा गया है- खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है अर्थात् जठराग्नि के द्वारा पचाये जाने पर वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है। सो किस प्रकार? तीन भागों में विभक्त होते हुए उस अन्न का जो स्थविष्ठ -स्थूलतम धातु - सबसे स्थूल वस्तु यानी विभक्त हुए अन्न का जो स्थूल अंश होता है वह रसादि क्रम से मल हो जाता है।

तथा जो अन्न का मध्यम अंश यानी मध्यम धातु होता है वह रसादि कर्म से परिणत होकर मांस हो जाता है और जो अणिष्ठ-अणुतम धातु होता है वह ऊपर की ओर हृदय में पहुंचकर हिता नाम की सूक्ष्म नाड़ी में प्रवेश कर वाक् आदि इंद्रिय समूह की स्थिति उत्पन्न करता हुआ मन हो जाता है। वह मन रूप से विपरिणाम विकार को प्राप्त होता हुआ मन का उपचय करता है। इस कारण भौतिक होना ही सिद्ध होने से मन का भौतिक होना ही सिद्ध होता है। उपनिषद में कहा गया है मन इस का दैव चक्षु है। वह भी मन के नित्यत्व की अपेक्षा से नहीं है। तो फिर किस दृष्टि से है? वह कथन सूक्ष्म,व्यवहित और दूरवर्ती इत्यादि सभी प्रकार के इंद्रियों के विषयों में व्यापक होने की अपेक्षा से है। तथा जो अन्य इंद्रियों की अपेक्षा से उसका नित्यत्व है वह भी आपेक्षिक है ऐसा हम आगे चलकर कहेंगे क्योंकि सत एकमात्र अद्वितीय है ऐसी श्रुति है।

¹⁹ छा.उप. ६.५.१

3.4 वैश्वानर का स्वरूप

अथैवं सति यः पुरुष आत्मा सोऽग्निरग्रं नयतीत्यग्रणीरग्निरुच्यते। अयं हि सर्वधातुजातं पचन्नग्रं नयत्यतोऽग्निर्वैश्वानर इति चायमुच्यते।

विश्वं सर्वं नरशब्दोपलक्षितं देहादिकं नयत्युत्तम्भयतीति विश्वानरो विश्वानर एव वैश्वानर इति।

अथ यो ह खलु वावैतस्य सोऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वाख्याश्चेतनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषाऽप्यस्येति।

यह वह सूक्ष्म, अग्राह्य अर्थात् कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों से पकड़ में न आने वाला व दिखाई न देनेवाला, बुद्धिपूर्वक पुरुष नामक तत्व है जो आंशिकरूप से देहादिसङ्घात में विद्यमान रहता है। इसकी स्थिति सोये हुए व्यक्ति के अबुद्धिपूर्वक ज्ञान की भाँति है। और इसका जो अंश है, वह चैतन्यमात्र, प्रत्येक पुरुष में दर्पण में मुख की तरह प्रतिबिम्बित अथवा प्रत्येक पात्र में अलग-अलग दिखनेवाले सूर्यबिम्ब के समान क्षेत्रज्ञ शरीर को जाननेवाला, सङ्कल्प, अध्यवसाय निश्चयात्मिकावृत्तियुक्त और अहङ्कार रूप लक्षणों वाला है जिसे वेदान्तग्रन्थों में विश्वनामक ब्रह्मा अथवा वैश्वानर बतलाया गया है। स्वयं चेतन होने के कारण इसने इस शरीर को चेतन की भाँति प्रतिष्ठापित कर दिया है और वही इसे प्रेरित करनेवाला भी है। उन्होंने फिर पूछा-“भगवन्! यदि केन्द्र में स्थित इस प्रकार के आत्म तत्त्व ने ऐसे शरीर को चेतन भाँति प्रतिष्ठापित कर दिया है, और वह इसका प्रेरक भी है तो किस प्रकार से ?’ उनसे उन्होंने मैत्री ने कहा -

अथोपांशुरन्तर्यामिमभिभवत्यन्तर्यामि उपांशुं चैतयोरन्तरा देवौष्ण्यं प्रासुवद्यदौष्ण्यं स पुरुषोऽथ यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरः।

अन्यत्राप्युक्तमयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति।

घोषः- तस्याग्रेण प्रसिद्धो घोषः शब्दो भवति। तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति ।²⁰

उस हृदयस्थित पुरुष का यही दर्शनोपाय हैं जबकि मनुष्य इस शरीर में स्पर्शद्वारा उष्णता को जानता है तथा यही उसका श्रवणोपाय है जबकि वह कानों को मूँदकर निनद (रथ के घोष), नदथु (बैल के डकराने) और जलते हुए अग्नि के शब्द के समान श्रवण करता है, वह यह ज्योति दृष्ट और श्रुत है- इस प्रकार उसकी उपासना करें।

यत्र जिस समय एतत् यह विजानाति इस क्रिया का विशेषण है, इस शरीर में हाथ से स्पर्श करके उस स्पर्शद्वारा रूपके साथ रहने वाली उष्णता को जानता है, वही उष्णिमा ही नामरूप का विभाग करने के लिए देह में अनुप्रविष्ट हुए चैतन्यात्मज्योति का अनुमान कराने वाला लिंग है, क्योंकि उसका कभी व्यभिचार नहीं होता। जीवित रहने वाला उष्ण ही होता है और मरनेवाला शीत होता है- ऐसा ही जाना जाता है। मरण-काल में तेज परदेवता में लीन हो जाता है, क्योंकि उस समय परदेवताओं के साथ उसका अभेद हो जाता है।

अतः धूम जिस प्रकार अग्नि का अनुमापक है उसी प्रकार उष्णता जीवन का और असाधारण लिङ्ग है। इसलिए उस परदेवता की यह दृष्टि यानी साक्षात् दर्शन के समान उसके दर्शन का साधन है।

जिस समय पुरुष इस ज्योति के लिङ्ग को सुनना चाहता है उस समय 'एतत् कर्णावपिगृह्य' यहां 'एतत् शब्द अपिगृह्य' क्रिया का विशेषण है, अर्थात् कानों को इस प्रकार मूँदकर अंगुलियों

²⁰ छा.उप ३.१३.८

से बंदकर निनद के समान- रथ के घोष को निनद कहते हैं. उसके समान शब्द सुनता है तथा नदथु- बैल के डकराने के समान और जिस प्रकार बाहर जलते हुए अग्नि का शब्द होता है उस प्रकार के शब्द का अपने शरीर के भीतर श्रवण करता है।

इस प्रकार यह ज्योति दृष्ट और श्रुत लिङ्गयुक्त होने से दृष्ट और श्रुत है- इस तरह इसकी उपासना करें।²¹

उपनिषद ग्रंथों के अनुसार जिस प्रकार मानव शरीर अंतर्गत जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में एक ही शक्ति कार्यरत रहती है, उसी भांति जगत् प्राणी, जगत् सृष्टा आदि रूप में एक ही सत्ता भासमान है। वैश्वानर, हिरण्यगर्भ, ईश्वर तथा ब्रह्म ये ब्रह्म की चार अवस्थायें हैं।

प्रथम अवस्था वैश्वानर

उपनिषदों में वैश्वानर की कल्पना पुरुष रूप में की गई है। माण्डूक्योपनिषत् में वैश्वानर के स्वरूप वर्णन का इसप्रकार किया गया है।

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।²²

आत्मा का प्रथम पाद वैश्वानर

जाग्रत अवस्था जिसका स्थान है उसे जागरितस्थान कहते हैं। जिसकी अपने से भिन्न विषयों में प्रज्ञा है उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं, अर्थात् जिसकी अविद्याकृत बुद्धि बाह्य विषयों से संबंध सी भासती है। इसी प्रकार जिसके सात अंग हैं अर्थात् इस उस वैश्वानर आत्मा का द्युलोक शिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आकाश मध्यस्थान देह है, अन्न का कारण रूप जल ही मूत्र स्थान है और पृथ्वी ही चरण है। इस श्रुति के अनुसार अग्निहोत्रकल्पना में अंगभूत होने के कारण

²¹ छा.उप.शंकरभाष्य. पृ.३०२

²² मा.उप. १.१.३

आहवनीय अग्नि उसके मुख्य रूप से बतालाया गया है। इस प्रकार जिसके सात अंग हैं उसे ही सप्तांग कहते हैं।

तथा जिसके उन्नीस मुख, दस जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, पांच प्राणादि वायु तथा मन, बुद्धि अहंकार और चित्त ये जिसके मुख समान अर्थात् उपलब्धि के द्वार हैं, वह ऐसे विशेषणों वाला वैश्वानर उपर्युक्त द्वारों से शब्द आदि स्थूल विषयों को भोगता है इसलिए वह स्थूलभुक् है। संपूर्ण नरों को अनेक प्रकार की योनियों में वहन करने के कारण वह वैश्वानर कहलाता है। वह विश्व नर रूप है इसलिए विश्वानर है। विश्वानर ही स्वार्थ में तक्षित अणु प्रत्यय होने से वैश्वानर कहलाता है। मांडूक्योपनिषद् के अनुसार- प्रथम मात्रा अकार व्याप्त होने और आदि होने के कारण जागरित स्थान रूप वैश्वानर नामक प्रथम चरण है।

छांदोग्य-उपनिषद् में कहा गया है-

तान्होवाचैते वै खलु सूर्यं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं

ये तुम लोग अपने से अभिन्न होने पर भी इस वैश्वानर आत्मा को पृथक् सा जानकर अन्न भक्षण करते हो। तात्पर्य यह है कि जन्मांध पुरुषों के हस्ती दर्शन के समान तुम परिच्छिन्न आत्मबुद्धि से उसे जानते हो। किंतु जो कोई द्युलोक रूप मस्तक से लेकर पृथ्वी रूप पादपर्यंत इन पूर्वोक्त अवयवों से युक्त एक प्रादेशमात्र -जो प्रत्यगात्मा में ही द्युमूर्धा से लेकर पृथ्वी पाद पर्यंत अंतर प्रादेशों द्वारा मित होता है अर्थात् जाना जाता है उस प्रादेश मात्र आत्मा की उपासना करता है अथवा मुख आदि कर्मों में भोक्ता रूप से मित होता है इसलिए प्रादेश मात्र है या द्युलोक से लेकर पृथ्वी पर्यंत प्रदेशी उसका परिणाम है इसलिए प्रादेश मात्र है अथवा शास्त्र द्वारा प्रकर्ष से आदिष्ट होते हैं, इसलिए द्युलोक आदी प्रादेश है उतने ही परिणाम वाला होने से प्रादेश मात्र है। अन्य शाखा में तो मूर्धा से लेकर चिबुक पर्यंत प्रतिष्ठित है इसलिए उसे प्रादेश मात्र कल्पित करते हैं, किंतु यहाँ वह इस प्रकार अभिप्रेत नहीं है क्योंकि उस आत्मा का द्युलोक ही मूर्धा है इत्यादि सार्वार्त्म्य रूप से उपसंहार किया गया है।

प्रत्यगात्मरूप से अभिमान किया जाता है अर्थात् “मैं” इस प्रकार जान जाता है, इसलिए आत्मा की यह सर्वात्मा ईश्वर संपूर्ण नलों को पुण्य-पापानुरूप गति को ले जाता है, इसलिए सर्वात्मा होने के कारण विश्व मेरे नरस्वरूप है इसलिए वैश्वानर है ,या समस्त नरों द्वारा अपने आत्म रूप से ही विभक्त करके ले जाया जाता है इसलिए वैश्वानर है। उसी की जो इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता हुआ अन्नादि खाने वाला होता है, द्युलोकादि समस्त लोकों में, संपूर्ण चराचर भूतों में तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप समस्त आत्माओं में क्योंकि इन्हीं में प्राणियों की आत्मकल्पना का निर्देश किया जाता है। अन्न भक्षण करता है। तात्पर्य यह है कि वैश्वानरवेत्ता सर्वात्मा होकर अन्न भक्षण करता है, अज्ञानियों के समान पिण्डमात्र में अभिमान करके अन्न नहीं खाता।²³

इस प्रकार जानने वाला ज्ञान संपूर्ण भोगों को प्राप्त करता हुआ सब में प्रमुख हो जाता है। छांदोग्य-उपनिषद् में कहा गया है की इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही द्युलोक है। तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्व सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वत्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहनीयः... सुतेजाः।²⁴

उस इस प्रकृति वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही सुतेजा है, चक्षु विश्वरूप है, प्राण पृथग्वत्मारूप वायु है, शरीर का मध्य भाग बहुल है, बस्ति ही रयि है और पृथ्वी ही चरण हैं। अथवा यह वाक्य विधि के लिए है , अर्थात् इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिए। अब इसके आगे वैश्वानरवेत्ता के भोजन में अग्निहोत्र का निश्चय करने की इच्छा से राजा कहता है-

²³ छा.उ. ५.१८.१

²⁴ छा.उप.५.१८.२

इस वैश्वानर यानी भोक्ता का वक्षस्थल ही आकार में समान होने के कारण वेदी है, लोम कुशाएं है, क्योंकि वेदी में बिछे हुए कुशों के समान वे वक्षस्थल पर बिछे हुए दिखाई देते हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि हैं; क्योंकि मन हृदय से ही उत्पन्न सा होकर उसका अंतर्वती होता है, इसलिए मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है तथा आस्य- मुख आहवनीयाग्नि के समान आहवनीय है क्योंकि इसमें अन्न का हवन होता है।

इस श्रुति के अनुसार वैश्वानर से सारा जगत् व्याप्त है, जिस प्रकार आकार नाम का अक्षर आदिमात्र है उसी प्रकार वैश्वानर भी है। उसी समानता के कारण वैश्वानर की आकार रुपता है। जो पुरुष ऐसा जानते हैं अर्थात् उपर्युक्त एकत्व को जानने वाला है वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है तथा महापुरुषों में आदि प्रमुख होता है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह जगत् ही वैश्वानर है।

वैश्वानर रूपी यह जगत् ही ब्रह्म है। दो धारणाएँ सम्मुख आती है इसी कारण ब्राह्मण कुमारी द्वारा ब्रह्म विषयक जिज्ञासा प्रकट किए जाने पर और यह कहने पर कि वे द्युलोक, आदित्य, वायु, आकाश एवं जल की उपासना करते हैं। प्रजापति ने उनसे बार-बार यही कहा कि जिनकी तुम उपासना करते हो वही वैश्वानर है। राजा ने उनकी इस 'वैश्वानर' आत्मा की उपासना के महत्व से भी परिचित कराया जो कोई यहाँ है मैं हूँ। जो समस्त लोकों में, समस्त प्राणियों में और समस्त आत्माओं में अन्न का भक्षण करता है। इस श्रुति वाक्य से यही स्पष्ट होता है कि यह वैश्वानर रूपी जगत् वस्तुतः ब्रह्म से भी भिन्न नहीं है।

सोंऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः

गीता में कहा गया है –

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं – यह शरीर क्षेत्र जैसे खेत में बोये हुए बीजों का उनके अनुरूप फल समय पर प्रकट होता है, वैसे ही इसमें बोए हुए कर्मों के संस्कार रूप बीजों का फल समय पर प्रकट होता है, इसलिए इसका नाम क्षेत्र है और इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ इस नाम से उनके तत्व को जानने वाले ज्ञानीजन कहते हैं। क्षेत्रज्ञ शब्द जीव का उपलक्षक है, क्योंकि वह शरीर रूप क्षेत्र का ज्ञाता है। शरीर को क्षेत्र इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसमें धर्म और अधर्म के बीज अङ्कुरित होते हैं।

क्षेत्र का स्वरूप – पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। ये क्षेत्र का स्वरूप हैं।²⁵

क्षेत्र के विकार - इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल का देह का पिण्ड, चेतना शरीर और अन्तःकरण की एक प्रकार की चेतन शक्ति और धृति।²⁶ धृति तीन प्रकार की बताई गई है गीता में- सात्विकी, राजसी तथा तामसी ।

सात्विकी धृति – भगवद्विषय के सिवाय अन्य सांसारिक विषयों को धारण करना ही व्यभिचार दोष है, उस दोष से जो रहित है वह अव्यभिचारिणी धारणा है। मन, प्राण और इन्द्रियों को भगवत्प्राप्ति के लिए भजन ध्यान और निष्काम कर्मों में लगाने का नाम सात्विकी धृति है।²⁷

राजसी धृति- फल की इच्छावाला मनुष्य जिस धारण शक्ति के द्वारा अत्यंत आसक्ति से धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, वह धारण शक्ति गीता राजसी है।²⁸

²⁵ गीता. १३.५

²⁶ गीता. १३.६

²⁷ गीता. १८.३३

²⁸ वही. १८.३४

तामसी धृति - दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारण शक्ति के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःख को तथा उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किए रहता है वह धारण शक्ति तामसी है। इसप्रकार ये क्षेत्र के विकार बताए गए हैं।

सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्ग प्रजापतिर्विश्वेत्यस्य प्रागुक्ता एतास्तनवः।

सङ्कल्प - आचार्य रामतीर्थ के अनुसार सङ्कल्प एक प्रकार का मानसिक विकार अथवा कार्य है, जिसका स्वरूप यह मुझे करना चाहिए - इत्यादि प्रकार का होता है।

अध्यवसाय - बुद्धि की वृत्ति है जो करणीय विषय के स्वरूप, साधन और फलों की यथोचित अवधारणा करती है।

अभिमान का अभिप्राय अहंकार है। ये सङ्कल्प, अध्यवसाय और अभिमान अचेतन शरीर में नहीं दिखलाई देते, जीवित शरीर में ही दिखलाई देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ये शरीर के धर्म नहीं हो सकते।

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मेति।

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः॥२॥

वह ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, आकाशशरीर, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस इस संपूर्ण जगत् को सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाक् रहित और सम्भ्रम शून्य हैं।

मनोमय- मन प्रायः, जिसके द्वारा जीव मनन करता है उसे मन कहते हैं यह आपने वृत्ति द्वारा विषयों में प्रवृत्त हुआ करता है। उस मन के कारण वह मनोमय है। अतः पुरुष मन प्रायः होकर मन के प्रवृत्त होने पर प्रवृत्त सा होता है। और निवृत्त होने पर निवृत्त सा हो जाता है। इसलिए प्राणशरीर है, "जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वह प्राण है"।

यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राण²⁹

इस श्रुति के अनुसार विज्ञान और क्रिया इन दो शब्दों से मिलकर बना हुआ लिंगशरीर ही प्राण है, वह प्राण जिसका शरीर है उसे प्राण शरीर कहते हैं। निश्चय ही जो प्राण है, वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है। क्योंकि प्रज्ञा और प्राण दोनों एक साथ ही इस शरीर में निवास करते हैं और जीवात्मा के साथ एक ही साथ इस शरीर से बाहर निकलते हैं। इस प्राणमय ब्रह्म का यही विज्ञान है। क्योंकि सुषुप्तावस्था में निद्राधीन मनुष्य किसी भी तरह का सपना नहीं देखता। उस समय उसकी वाणी सभी नामों के साथ, आँखें सभी रूपों के साथ, कान सभी शब्दों के साथ और मन सभी चिन्तनों एवं ध्यानों के साथ मुख्य प्राण में सन्निहित हो जाते हैं।

मुण्डकोपनिषत् में कहा गया है –

मनोमयः प्राणशरीरनेता

जैसा कि आत्मा मनोमय और प्राणरूप शरीर को अन्य देह में ले जाने वाला है 'इस अन्य श्रुति से सिद्ध होता है। हृदयाकाश में स्थित वही आत्मा मनोवृत्ति से ही अनुभव किया जाता है, इसीलिए मनरूप उपाधि वाला होने से वह मनोमेय है। तथा प्राणशरीरनेता - प्राण और शरीर का नाम प्राण शरीर है, उसे यह एक स्थूल शरीर से दूसरे शरीर में ले जाने वाला है। यह हृदय अर्थात् बुद्धि को उसके पुण्डरीकाकाश में आश्रित कर अन्न यानी खाए हुए अन्य के परिणामरूप और निरंतर बढ़ने-घटने वाले पिण्डरूप अन्नमय देह में स्थित है क्योंकि हृदय में स्थित होना ही आत्मा की स्थिति है, अन्यथा अन्न में आत्मा की स्थिति नहीं है।

धीर विवेकी पुरुष शास्त्र और आचार्य के उपदेश से प्राप्त तथा शम, दम, ध्यान, सर्वत्याग एवं वैराग्य से उत्पन्न हुए विशेष ज्ञान द्वारा उस आत्मतत्त्व को सर्वत्र परिपूर्ण देखते यानी अनुभव

²⁹ कौ.उप. ३.३

करते हैं, जो आनंद स्वरूप- संपूर्ण अनर्थ, दुख और आयास से रहित, सुखस्वरूप एवं अमृतमय सर्वदा अपने अंतःकरण में विशेष रूप से भास रहा हैं।³⁰

भारूप- भा दीप्ति अर्थात् चैतन्य ही जिसका रूप है उसे भारूप कहते हैं।

सत्यसंकल्प - जिसके संकल्प और सत्य यानी अमिथ्या है वह यह ब्रह्म सत्यसंकल्प है। तात्पर्य यह है कि संसारी पुरुष के समान ईश्वर का संकल्प अनैकान्तिक (कभी हो, कभी न हो ऐसे) फलवाला नहीं है। संसारी जीव का संकल्प अनृत अर्थात् मिथ्या फलरूप हेतु से प्रत्यूढ-वृद्धि को प्राप्त होने के कारण मिथ्या फलवाला होता है।

आकाशात्मा - जिसका आत्मा यानी स्वरूप आकाश के समान हो उसे आकाशात्मा कहते हैं। सर्वत्र व्यापक, सूक्ष्म तथा रूप आदि से रहित होना ही ईश्वर का आकाश के समान होना है।

सर्वकर्मा- उस ईश्वर के द्वारा सर्व यानी विश्व का निर्माण किया जाता है- इसलिए यह सारा जगत उसका कर्म है ; जैसा कि "वही सबका कर्ता है।" सः हि सर्वस्य कर्ता ³¹।

सर्वकाम - संपूर्ण दोषरहित काम उस परमात्मा के ही है इसलिए वह सर्वकाम है; जैसा कि मैं प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध काम हूँ। स्मृति से प्रमाणित होता है कि -

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि"।³²

बलवानों का जो कामना और आसक्ति से रहित बल -ओज- सामर्थ्य है, वहाँ मैं हूँ। अभिप्राय यह है कि अप्राप्त विषयों की जो तृष्णा है, उसका नाम काम है और प्राप्त विषयों में जो प्रीति -तन्मयता है उसका नाम राग है ,उन दोनों से रहित केवल देह आदि को धारण करने के

³⁰ मु.उप.२.२.७

³¹ बृ.उ. ४.४.१३

³² गीता ७.११

लिए जो बल है वह मैं हूँ। जो संसारी जीवों का बल कामना और आसक्ति का कारण है वह मैं नहीं हूँ। तथा हे भारतश्रेष्ठ! प्राणियों में जो धर्म से अविरुद्ध शास्त्रानुकूल कामना है, जैसे देहधारण मात्र के लिए खाने-पीने की इच्छा आदि, वह इच्छारूप काम भी मैं ही हूँ। इसप्रकार गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं।

सर्वगंध - समस्त सुखकर गंध उसी के हैं इसलिए वह सर्वगंध है; जैसा कि पृथ्वी में मैं पुण्य गंध हूँ। स्मृति से सिद्ध होता है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां ³³।

इसी प्रकार पुण्यरस भी उसी के समझने चाहिए। क्योंकि श्रुति ने और अपुण्य गंध और रस का ग्रहण तो पाप संबंध के निमित्त से बतलाया है; जैसा कि इसी से उस घ्राणेन्द्रिय के द्वारा सुगंध और दुर्गंध दोनों ही को ही सूँघता है, क्योंकि यह पाप से विद्ध है। यह श्रुति द्वारा प्रमाणित होता है। किंतु ईश्वर का पाप से संसर्ग नहीं है, क्योंकि उसमें अविद्यादि दोष होने से संभव नहीं है।

तच्चोक्तं श्वेताश्वरोपनिषदि- बुद्धेर्गुणेनाऽत्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यवरोऽपि दृष्टः।

श्वेताश्वेतरोपनिषत् में भी कहा गया है कि-अंगुष्ठमात्र अर्थात् हृदयगुहा की अपेक्षा से अंगूठे के बराबर परिमाणवाला, रवि तुल्यरूप अर्थात् ज्योति स्वरूप, बुद्धि के गुण संकल्प और अहंकारादि से युक्त तथा शरीर के गुण जरादि से भी संपन्न - जरा और मृत्यु शरीर के धर्म हैं। ऐसा कहा भी है। आराग्रमात्र कोड़े के अग्रभाग में लगा हुआ जो लोहे का कांटा होता है उसकी नोक के बराबर अन्य भी यानी आत्मा भी ज्ञानस्वरूप से देखा जाना गया है। यहाँ 'अपि' शब्द संभावना में है तात्पर्य यह है कि जल में प्रतिबिंबित सूर्य के समान उपाधि से अन्य जीवात्मा भी होना संभव है। संकल्प और अहंकार से युक्त तथा बुद्धि और शरीर के गुणों से भी युक्त है, वह दूसरा जीव भी आरा के अग्र भाग जैसा देखने आया है।

³³ गीता ७.९

स वा एषोऽस्माद्धदन्तरादकृतार्थोऽमन्यतार्थानिश्रानीति। अतः खानीमानि भित्त्वोदितः पञ्चभी रश्मिभिर्विषयानत्ति।

इदानीमस्य लोकसिद्धं विषयानुभवप्रकारमनुवदञ्छरीरादे रथादिकल्पनां विदधानोऽस्य विषयमोक्षप्राप्तिमार्गयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति –

इति बुद्धीन्द्रयाणि यानीमान्येतान्यस्य रश्मयः कर्मेन्द्रियाण्यस्य ह्या रथः शरीरं मनो नियन्ता प्रकृतिमयोऽस्य प्रतोदोऽनेन खल्वीरितः परिभ्रमतीदं शरीरं चक्रमिव मृत्पचेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽप्यस्येति॥

उपांशु और अन्तर्यामि ये दो यज्ञानुष्ठानों में प्रयुक्त होने वाले ग्रह अर्थात् प्याले हैं। ऐतरेय, शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में भी इनकी व्याख्या प्राणादि के सन्दर्भ में की गई है। ऐतरेय के अनुसार प्राण और अपान ही उपांशु और अन्तर्यामि संज्ञक ग्रह हैं-

प्राणापानौ उपांश्चर्यामौ³⁴

प्राणापानाभ्याममेवोपांश्चन्तर्यामौ निरमिमीत।³⁵

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्राण उपांशु है, व्यान उपांशु का सवन है, और उदान अन्तर्यामि है। इन दोनों के मध्य में चमकती हुई उष्णता उत्पन्न हुई। यह उष्णता ही पुरुष है। और जो पुरुष है, वह अग्नि वैश्वानर स्वरूप है। यह बात अन्यत्र भी कही गई है- यह जो पुरुष के भीतर स्थित अग्नि है, वह वैश्वानर है। जिसके द्वारा खाया गया अन्न पचाया जाता है, जिसके द्वारा खाया जाता है, उसी का यह शब्द घोष होता है, जिसे सभी लोग कान बन्द करके सुन सकते हैं। जब कोई व्यक्ति ऊपर जाने की स्थिति में होता है, वह इस शब्द को नहीं सुन पाता। वह पुरुष अथवा वैश्वानर पाँच प्रकार से अपना विभाजन करके बुद्धिरूपा गुहा गुप्तस्थान में स्थित है।

³⁴ ऐत.ब्रा. २.२१

³⁵ तैत्ति.ब्रा. १.५.४.१

वे पाँच प्रकार ये हैं – मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसङ्कल्प और आकाशात्मा।

उसने हमारे हृदय के अन्दर से अपने को कृतकृत्य अर्थात् कृतार्थ नहीं माना। उसने सोचा कि मैं अर्थों अर्थात् विभिन्न ऐन्द्रिक विषयों का सेवन करूँ। इसलिए वह इन इन्द्रियों का भेदन करके निकला और पाँच रश्मियों अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों से विषयों का सेवन करता है। बुद्धि और ये इन्द्रियाँ ही इसकी रश्मियाँ हैं। कर्मेन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। रथ शरीर है। मन सारथि अर्थात् नियन्ता है। इसकी चाबुक प्रकृतिमयी है। इसके द्वारा प्रेरित होकर यह शरीर उसी प्रकार परिभ्रमण करता है, जैसे कुम्भकार के द्वारा घुमाया गया चाक घुमता रहता है। उसी ने इस शरीर को चेतनायुक्तरूप में प्रतिष्ठापित किया है और वही इसका प्रेरक है।

स वा एष आत्मेहोशन्ति कवयः।

वह आत्मा ही है, जिसकी कामना यहाँ बुद्धिमान् मनुष्य करते हैं।

सितासितैः कर्मफलैरनभिभूत इव प्रतिशरीरेषु चरति। -

वह शुक्ल और कृष्ण अर्थात् अच्छे और बुरे कर्मों से अप्रभावित रहकर प्रत्येक शरीर में सञ्चरण करती है।

अव्यक्तत्वात्सौक्ष्म्याददृश्यत्वादग्राह्यत्वान्निर्ममत्वाच्चानवस्थोऽसति कर्ताऽकर्तृवावस्थः।

वह अव्यक्त, सूक्ष्म, अदृश्य, अग्राह्य और ममत्वरहित होने कारण तीनों अवस्थाओं से रहित है। व्यक्तम्- विषयरूप-दृश्य जगत शरीरादि ज्ञान पर्यन्त जो भी व्यक्तरूप है, उससे विपरीत आत्म तत्त्व अव्यक्त है न कि संसार।

स वा एष शुद्धः स्थिरोऽचलश्चालेप्योऽव्यग्रो निस्पृहः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थश्च।

इस असत् अर्थात् अज्ञान से आवृत संसार में वह वास्तविक रूप से अकर्ता होने पर भी, कर्ता के समान प्रतीत भर होती है। वह आत्मा शुद्ध, स्थिर, अचल, अव्यग्र, निःस्पृह और स्वस्थ अपने में ही स्थित रहकर द्रष्टा के समान अवस्थित है। सत्य का भोग करती हुई वह गुणात्मक वस्त्र से अपने को आच्छादित करके स्थित है।

-----*****-----

चतुर्थ अध्याय

जीवात्मा, ब्रह्मतत्त्व तथा आदित्य की अवधारणा

4.1 जीवात्मा का स्वरूप विवेचन

4.2 कर्मफल मीमांसा व पुनर्जन्म की अवधारणा

4.3 ब्रह्म की नाना रूपों में स्तुति : महत्त्व तथा तदुपादेयता

4.4 आदित्य की उपासना

4.1 जीवात्मा का स्वरूप विवेचन

वे वाल्यखिल बोले – भगवन्। यदि इस प्रकार आप आत्मा की महिमा का प्रतिपादन करते हैं, तो यह दूसरी कौनसी आत्मा है, जो शुभाशुभ कर्मफलों से अभिभूत होती हुई अच्छी- बुरी योनियों में पड़ती रहती है? कभी वह उपर जाती है और कभी नीचे जाती है, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों से अभिभूत होकर विविध योनियों में परिभ्रमण करती रहती है।

अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्माख्यो योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यता इत्यवाञ्छोर्ध्वावा गतिर्द्वन्द्वैरभिभूयन्मानः परिभ्रमत्यस्योपव्याख्यानम्।

तब ऋषि ने कहा – यह जो दूसरा तत्व है उसका नाम भूतात्मा है वह भूतात्मा संज्ञक तत्व शुभाशुभ कर्म फलों से अभिभूत होता हुआ अच्छी –बुरी योनियों में पड़ता रहता है। कभी वह

उपर जाता है और कभी नीचे जाता है, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों से अभिभूत होकर विविध योनियों में परिभ्रमण करता रहता है।

पञ्चतन्मात्रा भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ पञ्चभूतानि भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ तेषां यत्समुदयं तच्छरीरमित्युक्तमथ यो ह खलु वाव शरीर इत्युक्तं स भूतात्मेयुक्तम्।

भूत शब्द से पञ्चतन्मात्राओं का कथन किया जाता है और पञ्चमहाभूत भी भूत शब्द से कहे जाते हैं। उन पञ्चमहाभूतों का जो समुदाय है, उसे ही शरीर कहा गया है। शरीर को ही वास्तव में भूतात्मा कहा गया है। वेदान्तसार में पञ्चभूतों से सृष्टि का वर्णन किया गया है।

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशद्वायुर्वायोरग्निग्रेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत इत्यादिश्रुतेः।¹ तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्तियुक्त अज्ञानोपाधि से उपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई। उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। उसमें जडता अधिक होने के कारण तमोगुण प्रधान विक्षेपशक्तियुक्त चैतन्य ही उसका कारण है। उस समय उन्हीं आकाशादि पञ्चभूतों में अपने-अपने साक्षात्कारों के गुणाधार पर सत्व, रजस और तमस की उत्पत्ति होती है।

एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते। एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते। स्थूलभूतानि तु पञ्चकृतानि।²

अतिस्थूलभूत, पञ्चीकृतों महाभूतों को कहते हैं। आकाशादि पाँच महाभूतों में से प्रत्येक को समान दो भागों में बाँटकर उन दस भागों में से प्राथमिक (अर्धांश) पाँच भागों को पुनः चार बराबर भागों में प्रत्येक को विभक्त करके उनकी $\frac{1}{8}$ भाग को अपने-अपने द्वितीयार्थ भाग को छोड़कर दूसरे भागों को मिलाने की प्रक्रिया पञ्चीकरण है। अर्थात् आकाश = $\frac{1}{2}$ भाग

¹ वेदान्तसार ५.७.७७

² वही ९८.

आकाश+ १/८ भाग वायु +१/८ भाग अग्नि +१/८ भाग जल+ १/८ भाग पृथ्वी। इसीप्रकार अन्य महाभूतों का १/८ अंश मिलकर पञ्चीकृत महाभूत बनता है। इसी प्रकार प्राणेन्द्रियान्तःकरण सहित, सूक्ष्मभूत समुदाय लिङ्गशरीर तथा पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत समुदाय को स्थूल शरीर कहा गया है।

अथामृतो ऽस्याऽत्मा बिन्दुरिव पुष्करा इति स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरिति। अथोऽभिभूतत्वात्सम्मूढत्वं प्रयातः सम्मूढत्वात्। आत्मस्थं प्रभूं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद्गुणौघैरुह्यमानः कलूषीकृतश्चास्तिरश्चञ्चलो लुप्यमानः सस्पृहो व्यग्रश्चाभिमानित्वं प्रयाता इत्यहंसो ममेदमित्येवं मन्यमानो निबध्नात्यात्मनाऽत्मानम्। जालेनेव खचरः कृतस्यानु फलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यता इत्यवाञ्छयोर्ध्वा वा गतिर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमति।³

शरीर की आत्मा अमृत है। इसकी स्थिति ऐसी है जैसे कमल पर स्थित पानी की बूँद। प्रकृतिजन्य गुणों से अभिभूत है और अभुभूत होने के कारण यह सम्मूढता अर्थात् विवेकराहित्य की स्थिति में पहुँच गया है। सम्मूढ होने के कारण आत्मा में स्थित, प्रभू भगवान् ऐश्वर्य सम्पन्न और सब कुछ कराने वाले को भी नहीं देख पाया। गुण समूहों से ले जाया जाता हुआ, यह कलुषग्रस्त कर दिया गया है और अस्थिर, चञ्चल, लुप्त होता हुआ कामनाओं से युक्त, बैचेन और अभिमान की स्थिति में पहुँच गया है। यह 'मैं वह हूँ' यह मेरा है इसप्रकार से मानता हुआ अथवा समझत हुआ, स्वयं ही अपने को ऐसे बांध लेता है, जैसे आकाश में उड़नेवाला पक्षी बहेलिये के जाल में अपनी मूर्खता से फँस जाता है। किए कर्म के बाद में होने वाले परिणामों अथवा फलों से अभिभूत होता हुआ अच्छी-बुरी योनियों में पड़ता रहता है। कभी वह ऊपर जाता है और कभी नीचे। सुख-दुःख और गर्मी-सर्दी इत्यादि द्वन्द्वों से अभिभूत होता हुआ विविध योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। यह कौन है? उन वाल्यखिल्यों से उन्होंने कहा-

³ मैत्रा.आ. ३.२

अथान्यत्राप्ययुक्तं यः कर्ता सोऽयं वै भूतात्म करणैः कारयिताऽन्तःपुरुषः। चतुर्जालं चतुर्दशविधं चतुरशीतिधा परिणतं भूतगणमेतद्वै नानात्वस्य रूपम्। तानि ह वा एतानि गुणानि पुरुषेणे रितानि चक्रमिव मृत्पचेनेति। अथ यथाऽयस्मिण्डे हन्यमाने नाग्निरभिभूयत्येवं नाभिभूयत्यससु पुरुषोऽभिभूयत्ययं भूतात्मोपसंश्लिष्टत्वादिति।⁴

इस विषय में अन्यत्र भी कहा गया है जो कर्ता है, वही यह भूतात्मा है। और जो इन्द्रियों से काम कराने वाला है वह अन्तःपुरुष अर्थात् चिदात्मा है। जैसे अग्नि में तपाया गया- लोहे का पिण्ड लुहारों के द्वारा हथौड़े से पीटा जाकर अनेक आकारों को प्राप्त होता है- उसी प्रकार यह भूतात्मा भी अन्तःपुरुष से अभिभूत होता हुआ और गुणों के द्वारा किये गये आघातों के कारण अनेकत्व को प्राप्त कर लेता है। पञ्च महाभूतों का संघात चार जालों – जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज रूप से आवृत, पृथिवी आदि चौदह भोगस्थानों के कारण उतने ही प्रकार का और चौरासी अथवा ८४ लाख योनियों में परिणत होता रहता है। यही अनेकता रूप है। पुरुष के द्वारा प्रेरित होने पर ये सभी रूप ऐसे घूमते रहते हैं। जैसे- कुम्हार के द्वारा घुमाया गया चाक घुमता रहता है। जैसे- लोहे के पिण्ड पर हथौड़े से प्रहार होते समय अग्नि अप्रभावित रहती है, इसी प्रकार भूतात्मा के अभिभूत होने पर यह पुरुष भी अभिभूत नहीं होता, भूतसङ्घात से संश्लिष्ट होने के कारण केवल यह भूतात्मा ही अभिभूत हो जाता है। जीवात्मा के लिए आत्मा, देहि, पुरुष, अमर्त्य आदि पदों का प्रयोग किया गया है जीवात्मा प्रकृति के पदार्थों का भोग करता है अतः उसे सुख तथा दुःख का भोक्ता कहा गया है यह जीवात्मा अल्पज्ञ है। इस लिए वेद में जीवात्मा स्वयं को अज्ञानी बताता है अल्प ज्ञानयुक्त होने पर ही वह स्वयं को अज्ञान से आवृत्त मानता है ऋग्वेद कहा है की जीवात्मा एक ही शरीर में नहीं रहता, प्रत्युत कर्मानुसार अनेक शरीरों में आता जाता है। इस जीवन के माता पिता से वियुक्त होकर पुनः अगले जन्म में माता पिता के दर्शन करना चाहता है। तैत्तिरियारण्यक में जीवात्मा का पुरुष तथा इंद्र नाम से उल्लेख

⁴ वहीं. ३.३

करते हुए, उसका शरीर में निवासस्थान हृदय माना गया है। यहीं पे वर्णन है की जो अभ्यान्तर हृदयाकाश है। उतने यह पुरुष ज्ञानमय, अमृतस्वरूप तथा प्रकाशमय होकर अवस्थित है आभ्यन्तर तालों में जो अंग लटक रहा है वही जीवात्मा का निवासस्थान है।

देह में स्थित पंचकोश

मनुष्य की आत्मा पाँच कोशों के साथ संयुक्त है, जिन्हें पंचशरीर भी कहते हैं। ये पांच कोश निम्नांकित हैं--

(१) अन्नमय कोश- शरीर का पहला भाग यह पाँच भौतिक स्थूल शरीर का पहला भाग है। अन्नमय तो त्वचा से शुक्रपर्यन्त सप्तधातुमय है जो की पृथ्वी त्वचा से सम्बन्धित है। नियमित आहार-विहार से अन्नमय कोश पुष्ट व स्वस्थ रहता है।

(२) प्राणमय कोश- शरीर का दूसरा भाग प्राणमय कोश है। शरीर और मन के मध्य में प्राण माध्यम है। ज्ञान-कर्म के सम्पादन का समस्त कार्य प्राण से बना प्राणमय कोश ही करता है। श्वासोच्छ्वास के रूप में भीतर बाहर जाने-आने वाला प्राण स्थान तथा कार्य के भेद से दस प्रकार का माना जाता है। जैसे-प्राण-अपान-उदान-समान और व्यान मुख्य प्राण है तथा धनंजय-नाग-कूर्म-कृकल और देवदत्त गौण प्राण और उपप्राण है। प्राण का मुख्य कार्य है-आहार का यथावत परिपाक करना, शरीर में रसों को समभाव से विभक्त तथा वितरण करते हुए देहेन्द्रियों का तर्पण करना, रक्त के साथ मिलकर देह में सर्वत्र घूम-घूम कर मलों का निष्कासन करना जो की देह के विभिन्न भागों में रक्त में आ मिलते हैं। देह के द्वारा भोगों का उपभोग करना भी इस का कार्य है। प्राणायाम के नियमित अभ्यास से प्राणायाम कोश की कार्यशक्ति बढ़ती है

(३) मनोमय कोश- सूक्ष्म शरीर के इस पहले क्रियाप्रधान भाग को मनोमय कोश कहते हैं। मनोमय कोश के अंतर्गत मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त है, जिन्हें अंतःकरण चतुष्टय कहते हैं।

ज्ञान एवं ध्यान से मनोमय कोश की शुद्धि एवं पुष्टि होती है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध बाह्य जगत के व्यवहार से अधिक रहता है।

(४) विज्ञानमय कोश- सूक्ष्म शरीर का दूसरा भाग, जो ज्ञानप्रधान है, वह विज्ञानमय कोश कहलाता है। इसके मुख्य तत्त्व ज्ञानयुक्त बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जो मनुष्य ज्ञानपूर्वक विज्ञानमय कोश को ठीक से जान-समझकर उचित रूप से आचार-विचार करता है और असत्य, भ्रम, मोह, आसक्ति आदि से सर्वथा अलग रहकर निरंतर ध्यान एवं समाधी का अभ्यास करता है, उसे 'ऋतम्भराप्रज्ञा' उपलब्ध हो जाती है। प्रज्ञावान योगी विवेक एवं वैराग्य से चित्तवृत्तियों को निरुद्ध करके आत्मबोध को उपलब्ध हो जाता है

(५) आनन्दमय कोश- इस कोश को हिरण्यमय कोश, हृदयगुहा, हृदयाकाश, कारण शरीर, लिंग शरीर आदि नामों से पुकारा जाता है। यह हमारे हृदयप्रदेश में स्थित होता है हमारे अन्तरिक जगत से उसका सम्बन्ध अधिक रहता है, बाह्यजगत से बहुत कम मानों जीवन मानव के स्थूल शरीर का अस्तित्व और संसार के समस्त व्यवहार इसी पर आश्रित है। निर्बीज समाधि की प्राप्ति होने पर साधक आनन्दमय कोश में जीवनयुक्त सदा आनन्दमय स्थिति में रहता है। ईश्वर का प्रत्यक्षीकरण भी इन्हीं कोशों में होता है, यहीं पर अनुभूति होती है, परमात्मा भीतर से सदैव आत्मा को अच्छी प्रेरणा देता रहता है और बुरा मत करो ऐसा भी कहता है इतना ही नहीं वह भीतर भय भी निर्माण करता है। आगे आत्मा मन एवं इन्द्रियों को आदेश देता है। जब कभी कठिन प्रश्न उपस्थित होता है और उस प्रश्न का उत्तर अत्यावश्यक होता है, जब हम अंतर्मुख हो कर चिन्तन करते हैं। जब एकाग्र मन से चिन्तन करते हैं, तब भीतर से उत्तर प्राप्त होता है।

अथान्यत्राप्युक्तं शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संवृद्ध्ययुपेतं निरयेऽथ मूत्रद्वारेण
निष्क्रान्तमस्थितभिश्चितं मांसेनानुलितं चर्मणाऽवनद्धं

विण्मूत्रपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्चाऽमयैर्बहुभिः परिपूर्णं कोश इववसुना॥⁵

और अन्यत्र भी कहा गया है- यह शरीर मैथुन क्रिया से उत्पन्न है, नरकतुल्य स्थान विकसित हुआ है, मूत्र-द्वार से बाहर निकला है, हड्डियों से इसका ढाँचा बना है, माँस का पलस्तर चढ़ा हुआ है, चमड़े से यह ढका हुआ है, मल-मूत्र-पित्त-कफ-मज्जा-मेद चर्बी और नस नाडियों तथा अन्य बहुत से रोगों से परिपूर्ण है- धन भाण्डार के समान है।

मनुस्मृति में भी कहा गया है-

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।

चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः।

जराशोकसमाविष्टं रोगायतमातुरम्।

रजस्वलमनित्यञ्च भूतावासमिमं त्यजेत्।⁶

शरीर का वर्णन करते हुए कहते हैं – हड्डी का स्तम्भ द्वारा कसा हुआ तथा मांस व रूधिर से लिपा हुआ चमड़ी से बंधा हुआ दुर्गन्धिपूर्ण, मल-मूत्र से भरा हुआ है। बूढ़ापे तथा सांसारिक चिन्ताओं के कारण रोग का घर, भूक, प्यास, और अन्य अग्रियों के कष्ट में दुःखी, मानापमान की चिन्ता से चिन्तित तथा नाशवान अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश से बना हुआ घर है। जिसमें जीवात्मा वास करता है। अतएव इस नरक-कुण्ड (पुनः शरीर धारण करने) से बचाने वाले कर्मों को करें।

मानव की उत्पत्ति के विषय में यह धारणा जो ऊपर व्यक्त की गई है, यह एक शास्त्रविशेष की विचार प्रक्रिया के अनुरूप है। यह धारणा वास्तव में मन्त्र संहितोत्तर काल की है, अन्यथा माता के गर्भ को वैदिक साहित्य में नरक तुल्य नहीं कहा गया है। इसप्रकार के कथनों का

⁵ वहीं ३.४

⁶ मनु. ६.७६-७७

प्रयोजन देहासक्ति का निराकरण भर है। स्व. पं श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अपने वेदभाष्यों में मानव- शरीर की इस स्थिति का प्रत्यख्यान किया है उनके अनुसार यह शरीर गन्दगी का भण्डार न होकर वास्तव में देव-मन्दिर है, जिसकी सृष्टि परमात्मा ने विशेष प्रयोजन से की है और परमात्मा की सृष्टि (जिसे अमृतस्य पुत्राः जैसे वचनों से स्पष्ट किया गया है) को गन्दगी का भण्डार कहना - स्वयं परमात्मा का अपमान करना है। इस प्रकार के अंश इस आरण्यक की शास्त्रविशेष जन्य निष्ठा व्यक्त करते हैं।

अब स्थूल शरीर में वैराग्य को बताकर सूक्ष्मशरीर के वैराग्य का विवेचन कर रहे हैं।

अथान्यत्राप्युक्तं सम्मोहो भयं विषादो निद्रा तन्द्री प्रमादो जरा शोकः क्षुत्पिपासा कार्पण्यं क्रोधो नास्तिक्यमज्ञानं मात्सर्यं नैष्कारुण्यं मूढत्वं निर्द्विडत्वं निराकृतित्वमुद्धमसमत्वमिति तामसानि।

अन्तस्तृष्णा स्नेहो रागो लोभो हिंसा रतिर्द्विष्टिव्यावृत्तत्वमीर्ष्याऽ काममस्थिरत्वं चलत्वं व्यग्रत्वं जिगीषाऽर्थोपार्जनं मित्रानुग्रहणं परिग्रहावलम्बोऽनिष्टेष्विन्द्रियार्थेषु द्विष्टिरिष्टेष्वभिष्वङ्गः शुक्तस्वरोऽन्नमस्त्विति राजसान्येतैः परिपूर्ण एतैरभिभूता इत्ययं भूतात्मा तस्मान्नानारूपाण्याप्नोतीत्याप्नोतीति।⁷

सम्मोह, भय, विषाद, निद्रा, तन्द्री आलस्य, प्रमाद (लापरवाही), वृद्धावस्था, शोक, भूख, प्यास, कृपणता (कंजूसी), नास्तिकता, अज्ञान, ईर्ष्या डाह, करुणाहीनता, मूढता, निर्लज्जता, दुष्टता, औद्धत्य (धृष्टता या ढिठाई) और असमानता – ये तमोगुणजन्य विकृतियाँ हैं। इसलिए तृष्णा, स्नेह, राग, (आसक्ति), लोभ, हिंसा, कामभावना, द्वेष करना,, छिपकर षड्यन्त्र रचना, ईर्ष्या अकारण स्पर्धा, निष्प्रयोजन कार्य करना अकाम, अस्थिरता, चञ्चलता, बैचेनी व्यग्रता, जीतने की इच्छा, आवश्यकता से अधिक धन का उपार्जन, मित्रों को अनुगृहीत करना, परिजनों को सहारा देना और उनसे सहारा लेना, इन्द्रियों के अप्रिय विषयों में द्वेषभाव, इन्द्रियों के प्रिय

⁷ मैत्रा.आ. ३.५

विषयों में आसक्ति, रूक्षवचन और महत्वाकांक्षी होना ये रजोगुण जन्य हैं। यह भूतात्मा इसीलिए कहलाती है, क्योंकि यह इन तामसी और राजसी तत्वों से परिपूर्ण और अभिभूत है। इसीलिए यह अनेक रूपों को प्राप्त करती है।

4.2 कर्मफल मीमांसा

वे ऊर्ध्वरेता अर्थात् अखण्ड ब्रह्मचारी ऋषि वालखिल्य ऋतु प्रजापति के उपयुक्त व्याख्यान से अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए और उन्होंने उनके सम्मुख एक साथ जाकर कहा – भगवन्! आपको नमस्कार है। इसके अनन्तर भी आप हमें ज्ञान प्रदान कीजिए। हमारी पहुँच आप तक ही है। हमारे लिए अन्य मार्ग नहीं है। इस भूतात्मा का ऐसा कौन सा विधान है, जिससे यह अपने भूतात्म भाव को छोड़कर अपने चिदानन्दस्वरूप के साथ सायुज्य प्राप्त करता है? उन ऋषियों से उन्होंने कहा –

अथान्यत्राप्युक्तं महानदीषूर्मय इवानिवर्तकस्य यत्पुराकृतम्।⁸

अर्थात् अन्यत्र भी कहा गया है- जैसे बड़ी-बड़ी नदियों में उठी लहरें वापस पीछे नहीं लौटतीं, ठीक उसी प्रकार इस भूतात्मा के द्वारा पहले किये गये कार्य भी वापस नहीं लौटते। भोग से यद्यपि वह क्षीण होते रहते हैं, लेकिन बार-बार उन्हीं को करते रहते हैं, इसलिए ब्रह्मानन्द प्राप्ति के बिना वे समाप्त नहीं होते।

बृहदारण्यकोपनिषत् में कहा गया है - स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते।⁹

जब पिता के द्वारा रचे जाकर सात अन्न अलग-अलग भोक्ताओं को बाँटे गए थे, तभी से वे सर्वदा निरंतर उन भोक्तों द्वारा खाए जा रहे हैं, क्योंकि उन अन्नों के कारण ही उनकी स्थिति है। कृतक वस्तु का क्षय होना उचित ही है। अतः उनका भी क्षय होना युक्तियुक्त ही है। किंतु वे क्षय नहीं

⁸ मैत्रा.आ. ४.२

⁹ बृ.उप.१.५.२

जान पड़ते, क्योंकि संसार अक्षय रूप से ही स्थित दिखायी देता है। उनके इस अक्षय का कोई कारण होना चाहिए, अतः यह प्रश्न होता है कि वे क्षीण क्यों नहीं होते? इसका उत्तर यह है कि पुरुषो वा अक्षिति। जिस प्रकार पहले यह पिता विज्ञान और स्त्री आदि के संबंध से होने वाले पाङ्क्तकर्म द्वारा अन्न का रचयिता और भोक्ता था, उसी प्रकार जिन्हें वे अन्न दिए गए हैं वे भी उन अन्न के भोक्ता होते हुए भी उनके पिता ही है, क्योंकि वे भी विज्ञान और कर्म के द्वारा उन अन्नों को उत्पन्न करते हैं। इसी से यह कहा जाता है कि पुरुष जो अन्नों का भोक्ता है वह अक्षिति यानी उनके अक्षय का कारण है।

उसका अक्षितित्व किस प्रकार है? बतलाया जाता है - क्योंकि वह इस खाए जाने वाले कार्य-कारण रूप एवं कर्मफलात्मक सात प्रकार के अन्न को पुनः पुनः बार-बार धिया धिया - तत्तत्काल में होने वाली तत्व बुद्धि से और कर्मों यानी वाक्, मन और शरीर की चेष्टाओं से उत्पन्न कर देता है। यदि वह इस उपर्युक्त सप्तविध अन्न को विज्ञान और कर्मों के द्वारा एक क्षण भी उत्पन्न न करे, तो निरंतर खाए जाने के कारण वह विच्छिन्न यानी क्षीण हो जाए। अतः जिस प्रकार वह पुरुष अन्नों का निरंतर भोक्ता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धि और कर्म के अनुसार उन्हें उत्पन्न भी करता है। अतः निरंतर कर्ता होने के कारण पुरुष अक्षिति है। इसी से निरंतर खाये जाने पर भी वे अन्न क्षीण नहीं होते-ऐसा इसका तात्पर्य है।

अतः प्रज्ञा और क्रिया से लक्षित परंपरा पर आरुढ़ हो साध्य का साधन रूप से वर्तमान एवं कर्म का फलभूत यह संपूर्ण जड़ चेतनमय संसार क्षणिक, अशुद्ध, नदी के प्रवाह और दीपक की ज्योति के समान अस्थिर, कदलीस्तंभ के समान असार तथा फेन, मृगतृष्णाजल और स्वप्नादि के समान असत्य होकर भी जिनकी दृष्टि इसमें आसक्त है, उन बहिर्मुख लोगों को ही अविकीर्यमाण स्थिर, नित्य और सारवान् सा दिखाई देता है, क्योंकि परस्पर मिलकर रहने वाले नाना प्राणियों के अनन्त कर्मों एवं उनकी वासनाओं की परंपरा से आवद्ध हो सुस्थिर जान पड़ता है।

उसे वैराग्य कराने के लिए ही श्रुति ऐसा कहती है - धिया धिया जनयते कर्मभिः।

जो भी इस अक्षिति अर्थात् ऊपर बतलाये हुए अक्षय के हेतु को पुरुष ही अक्षिति है, वहीं तत् बुद्धि और कर्मों से अन्न को उत्पन्न करता है, यदि वह उत्पन्न न करे तो यह निश्चय क्षीण हो जाए, ऐसा जानता है वह प्रतीक के द्वारा अन्न भक्षण करता है।

जो पुरुष अन्नों के पिता पुरुष का अस्तित्व जानता है, वह प्रधानता से ही अन्न भक्षण करता है, अन्न के प्रति गौण होकर नहीं। अज्ञानी की तरह ज्ञानवान् अन्नों का आत्मभूत नहीं होता, वह भोक्ता ही रहता है, भोज्यता को प्राप्त नहीं होता। देवात्मभाव को प्राप्त होता है और ऊर्ज यानी अमृत का उपजीवी होता है।

और भी मुण्डकोपनिषत् में कहा गया है-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥¹⁰

उस कारणकार्यरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीव की हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं।

इसके हृदय में जो कामनाएँ आश्रित है इत्यादि अन्य श्रुति के अनुसार हृदयग्रन्थि बुद्धि में स्थित अविद्यावासनामय में काम को कहते हैं। यह हृदय के ही आश्रित रहने वाली है आत्मा के आश्रित नहीं। उस आत्मा तत्व का साक्षात्कार होने पर यह भेद अर्थात् नाश को प्राप्त हो जाती है। तथा अलौकिक पुरुषों के ज्ञेय पदार्थ-विषयक संपूर्ण संदेह, जो उनके मरणपर्यंत गंगाप्रवाहवत् प्रवृत्त होते रहते हैं, विच्छिन्न हो जाते हैं। जिसके संशय नष्ट हो गए हैं और जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है ऐसे इस पुरुष के जो विज्ञानोत्पत्ति से पूर्व जन्मांतर में किए हुए कर्म फलोन्मुख नहीं हुए हैं और जो ज्ञानोत्पत्ति के साथ-साथ किये जाते हैं वे सभी नष्ट हो जाते हैं, किंतु इस वर्तमान जन्म को आरम्भ करनेवाले कर्म क्षीण नहीं होते क्योंकि उनका फल देना आरम्भ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उस सर्वज्ञ असंसारी परावर -कारणरूप से पर और कार्यरूप से अपर ऐसे उस परावर

¹⁰ मु.उप. ३.२.८

के 'यह साक्षात् मैं ही हूँ' इस प्रकार देख लिए जाने पर संसार के कारण का उच्छेद हो जाने से यह पुरुष मुक्त हो जाता है।

समुद्रवेलेव दुर्निवार्यमस्य मृत्योरागनम्। सदसत्फलमयैह पाशे पङ्गुरिव बद्धं
बन्धनस्थस्येवास्वात्रन्त्र्यं यमविषयस्थस्येव बहुभयावस्थम्। मदिरोन्मत्त इव मोहमदिरोन्मत्तं
पाप्मना गृहीत इव भ्राम्यमाणं महोरगदष्ट इव विषयदष्टं महान्धारमिव रागान्धम्, इन्द्रजालमिव
मायामयम्। स्वप्न इव मिथ्यादर्शनं कदलीगर्भ इवासारम्। नट इव क्षणवेषम्। चित्रभित्तिरिव
मिथ्यामनोरममित्यथोक्तम्। शब्दस्पर्शादयो ह्यार्था मर्त्येऽनर्था इवाऽस्थिताः। येषां सक्तस्तु
भूतात्मा न स्मरेत्परमं पदम्।¹¹

समुद्र तट के समान मृत्यु के आगमन कि नहीं रोका जा सकता । यह जीवन अच्छे और बुरे कार्यों के तदनुरूप फलों से युक्त पाशों जालों से लगड़े व्यक्ति की तरह बँधा है, कैदी व्यक्ति की तरह इसे स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है, यमपुरी में रह रहे व्यक्ति की तरह यह बहुत भयग्रस्त रहता है, मोह- मदिरा से यह मद्यप की तरह उन्माद की स्थिति में घुमाया जा रहा है, विषय वासनाओं ने इसे उसी प्रकार से डस लिया है, जैसे किसी को महासर्प डस लेता है, गहरे अन्धेरे में पड़े व्यक्ति के समान यह राग-रंग में अन्धा हो गया है, जादू के खेल की तरह यह मायामय है, स्वप्न के सदृश इसका दिखाई देना झूठा ही है, जैसे कदली का अंकुर थोड़ी सी भी वर्षा नहीं सहन कर पाता, ठीक उसी प्रकार यह थोड़ा-सा भी आघात नहीं सह पाता। जैसे अभिनय के समय केवल थोड़ी देर के लिए अभिनेय विषय के अनुरूप वेशभूषा धारण करता है, उसी प्रकार इसका स्वरूप भी है। चित्राङ्कित दीवार के सदृश झुठे ही मन को लुभानेवाला है। इसविषय में कहा गया है-

शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध प्रभृति विषय मरणधर्मा प्राणी में अनर्थ की तरह ही स्थित है। उनमें आसक्त भूतात्मा परमपद अर्थात् परमेश्वर का स्मरण नहीं करता है। आचार्य रामतीर्थ ने

¹¹ मैत्रा.आ. ४.२

परमपद का अर्थ वैष्णव धाम किया है। स्मरण का अभिप्राय उनके अनुसार अनुसन्धान करना है।

संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष

ऊर्ध्वमूलो अवाङ्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मा तदेवामृतमुच्यते।

तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।¹²

लोक में जिस प्रकार तुल (कार्य) का निश्चय कर लेने से ही वृक्ष के मूल का निश्चय किया जाता है। उसी प्रकार संसाररूप कार्यवृक्ष के निश्चय से उसके मूल ब्रह्म का स्वरूप निर्धारण किया जाता है।

ऊर्ध्व (ऊपर की ओर) अर्थात् जो वह भगवान विष्णु का परम पद है वही जिसका मूल है ऐसा यह अव्यक्त से स्थावरपर्यंत संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूल है। इसका व्रश्चन (छेदन) होने के कारण यह वृक्ष कहलाता है।

जो जन्म, जरा, मरण और शोक आदि अनेक अनर्थों से भरा हुआ, क्षण-क्षण में अन्यथा भाव को प्राप्त होने वाला, माया मृग-तृष्णा के जल और गन्धर्वनगरादि के समान दृष्टनष्टस्वरूप होने से अंत में वृक्ष के समान अभाव रूप हो जाने वाला, केले के खम्भे के समान निःसार और सैकड़ों पाखण्डियों की बुद्धि के विकल्पों का आश्रय है, तत्त्वजिज्ञासुओं द्वारा जिसका तत्व इदम् रूप से निर्धारित नहीं किया गया, वेदांत निर्णीत पर ब्रह्म ही जिसका मूल और सार है, अविद्या काम कर्म और अव्यक्तरूप बीज से उत्पन्न होनेवाला है, ज्ञान और क्रिया ये दोनों जिसकी स्वरूप भूत शक्तियाँ हैं, वह अपर ब्रह्म हिरण्यगर्भ ही इसका अंकुर है, संपूर्ण प्राणियों के लिए लिंग शरीर ही

¹² कठो.उप.२.६.१

जिसके स्कंध है, जो तृष्णारूप जल के सेवन से बड़े हुए तेजवाला बुद्धि, इंद्रिय, और विषयरूप नूतन पल्लवों के अंकुरोंवाला, श्रुति, स्मृति, न्याय और ज्ञानोपदेशरूप पत्तोंवाला, यज्ञ, दान, तप आदि अनेक क्रियाकलापरूप सुंदर फूलोंवाला, सुख, दुःख और वेदनारूप अनेक प्रकार के रसों से युक्त प्राणियों की आजीविकारूप अनन्त फलोंवाला तथा फलों के तृष्णा रूप जल के सेवन से बड़े हुए और सात्विक आदि भावों से मिश्रित एवं दृढता पूर्वक स्थिर हुए (कर्म-वासनादि अवान्तर) मूलोंवाला है, ब्रह्म आदि पक्षियों ने जिस पर सत्यादी नामों वाले लोग सात लोकरूप घोंसले बना रखे हैं, जो प्राणियों के सुख-दुःख जनित हर्ष-शोक से उत्पन्न हुए, नृत्य, गान, वाद्य, क्रीड़ा, आस्फोटन, हंसी, आक्रन्दन, रोदन तथा हाय- हाय, छोड़-छोड़ के आदि अनेक प्रकार के शब्दों की तुमुलध्वनि से अत्यंत गुंजायमान हो रहा है तथा वेदान्तविहीत ब्रह्मात्मैक्यदर्शनरूप असंगशस्त्र से जिसका उच्छेद होता है ऐसा यह संसारूप वृक्ष अश्वत्थ है, अर्थात् अश्वत्थ वृक्ष के समान कामना और कर्मरूप वायु से प्रेरित हुआ नित्य चंचल स्वभाववाला है। स्वर्ग, नरक तिर्यक और प्रेतादि शाखाओं के कारण नीचे की ओर फैली शाखाओंवाला है तथा सनातन यानी आदि होने के कारण चिर काल से चला आ रहा है। इस संसार का जो मूल है वही शुक्र-शुभ्र-शुद्ध-ज्योतिर्मयी अर्थात् चैतन्यात्मा ज्योतिःस्वरूप है। वही सबसे महान होने के कारण ब्रह्म है। वही सत्यस्वरूप होने के कारण अमृत अर्थात् अविनाशी स्वभाववाला कहा जाता है। विकार वाणी का विलास और केवल नाममात्र है। अतः उस ब्रह्म से अन्य सब मिथ्या और नाशवान् है। उस परमार्थ सत्य ब्रह्म में उत्पत्ति, स्थिति और लय के समय संपूर्ण लोक गंधर्वनगर, मरीचिका-जल और माया के समान आश्रित हैं, ये परमार्थ दर्शन हो जाने पर बाधित हो जानेवाले हैं, जिस प्रकार घटादि कोई भी कार्य मृत्तिका आदि का अतिक्रमण नहीं कर सकते उसी प्रकार कोई भी विकार उस ब्रह्म का अतिक्रमण नहीं कर सकता। निश्चय यही वह ब्रह्म है।

“तपसा विन्दते महत्, तपसा ब्रह्म विजिज्ञास्व”

नातपस्कस्याऽत्मज्ञानेऽधिगमः कर्मसिद्धिर्वेति।

एवं ह्याह-

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्सम्प्राप्यते मनः

मनसः प्राप्यते ह्यात्मा यमात्वा न निवर्तत।¹³

इस आत्मा को भूतात्मा स्वरूप हटाने की विधि यह है कि वेदविद्या के द्वारा आत्मविषयक तत्त्वज्ञान की सम्यक् प्राप्ति, अपने धर्म के अनुरूप आचरण तथा अपने आश्रम अथवा अपने धर्म के नियमों का अनुपालन करना। यह व्रत है। अन्य कर्म तृणनिर्मित रस्सी की तरह है जो साधक को बन्धन में डालते हैं। इस व्रत का पालन करने से व्यक्ति साधनारत जन ऊपर के लोकों का अधिकारी बनता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान सम्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत आचरण से नीचे के लोकों में जाता है। जो वेदों में बतलाया गया है, वह स्वधर्म है। अपने धर्म का उल्लङ्घन करने से कोई उस आश्रम में नहीं रह पाता अर्थात् उससे च्युत हो जाता है। जो आश्रम के नियमों का ही पालन नहीं करता, उसका तपस्वी कहलाना कैसे उचित हो सकता है? जो तपस्या नहीं करता, उसे न आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है और न कर्मानुष्ठानों में सफलता ही मिलती है।

इसी प्रकार से कहा गया है - तपस्या से सत्व गुण की प्राप्ति होती है, सत्व गुण से मनोबल मिलता है, मनोबल से आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार का अनुभव होता है। इस आत्मा का ज्ञान पाकर साधक पुनः भूतात्मभाव की स्थिति में नहीं लौटता।

स्वधर्मस्यानुचरणम्। स्वाश्रमेष्वेवानुक्रमणं स्वधर्मस्य वा एतद्ब्रतं स्तम्बशाखेवापराण्यनेनोर्ध्वं भाग्भवत्यन्यथाऽवाङित्येष स्वधर्मोऽभिहितो यो वेदेषु न स्वधर्मतिक्रमेणऽश्रमी भवती ।

¹³ मैत्रा.आ ४.३.

रामतीर्थ की टीका के अनुसार अपने वर्णाश्रम धर्मगत नियमों का पालन करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, जिसके अभाव में आत्मज्ञान नहीं होता।

स्तम्बशाखोवापराणि- अर्थात् काम्यकर्म स्तम्बशाखा के समान तथा तृणशलाका के समान दृढ रहते हैं। अतः उनका सेवन नहीं करना चाहिए। मुमुक्षु को काम्यकर्मों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए।

पुनर्जन्म की अवधारणा

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये गन्धर्वासुरयक्षराक्षभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनां निरोधं पश्यामः।

अर्थात् मृत्युलोक के प्राणी होने के कारण इनकी मृत्यु तो होनी ही थी। अन्य गन्धर्व, असुर, यक्ष, राक्षस, भूतगण, पिशाच और तिर्यग्गामी ग्रहों इत्यादि का भी नियन्त्रण हम देखते हैं। इनके उल्लेख से ही क्या?

अथ किमेतैर्वाऽन्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं व्रश्चनं वातरज्जूनां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानापसरणं सुराणामित्येतद्विधेऽस्मिन् संसारे किं कामोपभोगैः।¹⁴

प्रलय काल में बड़े-बड़े समुद्रों का सूख जाना, महामेरु आदि पर्वतों का पतन, स्थिर वस्तुओं का चलने लगना, वायुनिर्मित रज्जुओं अर्थात् शिशुमारचक्र बन्धन इत्यादि का कट जाना, सप्तद्वीपवती इस वसुधा का प्रलयकाल में डूब जाना, असुरों तथा देवों का अपने स्थान से हटना इत्यादि। इस प्रकार के इस संसार में कामोपभोगों से क्या लाभ है?

¹⁴ मैत्रा.आ.१.४

इसप्रकार इनके द्वारा कुचले गए प्राणी का इस संसार में बार-बार आवागमन दिखाई देता है। इसलिए आप ही हमारा उद्धार करने में समर्थ है।

अन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन् संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः।

जैसे - जलहीन अन्धे कुएँ में पड़े मेढक की स्थिति है, उसी प्रकार मेरी भी इस संसार में दुःखमयी स्थिति है, जिससे आप ही हमें निकाल सकते हैं।

पुनर्जन्म के सिद्धांत को दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया गया है। प्रत्येक जीव आयु समाप्त होने पर अपने संस्कार और प्रारब्ध के अनुरूप योनियाँ में जन्म ग्रहण करता है। ऋग्वेद का कथन है की जीव नाना योनियों में जन्म धारण करता है।¹⁵ ब्राह्मण के अनुसार जो लोग संस्कारों का विधिपूर्वक सम्पादित नहीं करते वे मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते हैं। विधिवत संस्कार करने वाले जीव अंत में अमृतत्व को प्राप्त होते हैं। यही कारण है की जन्म लेते ही मनष्य देव, ऋण, ऋषि तथा पितृ ऋण को चुकाना प्रारम्भ कर देता है। ऋण उत्पन्न होना स्पष्टतः पुनर्जन्म की आस्था का परिणाम है जिस में कर्मों का फल मिलना अवश्यम्भावी है।¹⁶

पुनर्जन्म एवम भूतजन्म का विशद वर्णन ब्राह्मण ग्रंथों में प्राप्त होता है। पुनर्जन्म के स्थान पर कभी-कभी पुनर्मृत्यु का वर्णन भी उपलब्ध है।¹⁷ देवों से प्रार्थना की गई है की वे भूत एवं भावी जन्म का ज्ञान प्रदान करें। ब्राह्मण के अनुसार अमरत्व के प्राप्ति के लिए ज्ञान अनिवार्य है। यह भी उल्लेख है की जो सविता विद्या जानता है। वह पुनर्जन्म के चक्र के पार निकल जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस जन्म के अनन्तर का सायुज्य एवम उनके लोकों की प्राप्ति का भी भूरिशः

¹⁵ ऋ. १०.१७७.३

¹⁶ शत.ब्रा. ये वैतर्क्यं कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवति। १०.४.३.१०

¹⁷ अथमृत्युर्जयति। तै.ब्रा. ३.९.१९.५

वर्णन मिलता है।¹⁸ पुनर्जन्म में विश्वास कम से कम उपनिषद् काल से बराबर चला आ रहा है। वेदों और ब्राह्मणों के विचारों का यह एक स्वाभाविक विकास है और उपनिषदों में इसे स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है।

कठोपनिषद् में एक संवाद में नचिकेता ने अपने पिता से कहा है की आपके पूर्व पुरुष जैसे आचरण करते रहे है उसे देखिये। उसके बाद अन्य लोगों ने जैसा आचरण किया है। उस पर भी नजर डालिये। और उसके बाद आप अपने कर्तव्य के बारे में निर्णय कीजियेगा। यह मरणशील मानव अन्न की तरह पकाया जाता है अर्थात् जराजीर्ण होकर घिस पिस कर मर जाता है। और फिर अन्न की ही तरह फिर से उगता (जन्म लेता) है।¹⁹

ईशावस्योपनिषद् में कहा गया है कि जो लोग अज्ञानी और मूर्ख होते हैं, वे लोग असुर योनी को प्राप्त होते है-

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥²⁰

अर्थात् जिनमें कर्मफलों का लोकन-दर्शन यानी भोग होता है वे लोक अर्थात् जन्म योनियाँ अन्धतन्म यानी अज्ञान से आच्छादित हैं। वे इस शरीर को छोड़कर अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार उन ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त योनियों में ही जाते हैं जो कोई आत्मा का घात करते हैं वे आत्मघाती हैं। वे लोग कौन है। जो अज्ञानी है, वे किस प्रकार की हिंसा करते हैं? अविद्यारूप दोष के कारण अपने आत्मा का तिरस्कार करने से नित्य विद्यमान आत्मा का अजरामरत्वादिज्ञानरूप कार्य यानी फल मरे हुए के समान तिरोभूत रहता है, इसलिए अज्ञानीजन आत्मघाती कहे जाते हैं। इस आत्मघातरूप दोष के कारण ही वे जन्म-मरण को प्राप्त होते है।

¹⁸ वही. २. ३. ७. २

¹⁹ कठो. उप. १. १. ६

²⁰ ईशा. उप. ३

कठोपनिषद् में भी कहा गया है –

अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्²¹

अर्थात् जो यजमान दक्षिणा में जिन्होंने जल पी लिया है, जो घास खा चुकी है, जो दुग्धदोहा है तथा निरिन्द्रिया गौएँ हैं। उन इस प्रकार की गौओं का दक्षिणाबुद्धि से देनेवाला यजमान जो आनन्द अर्थात् सुख-हीन लोक है। उन्हीं को जाता है।

और भी कहा गया है अपने अपने कर्मों के अनुसार-

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाक्रम यथाश्रुतम्।²²

अर्थात् अन्य कुछ अविद्यावान् मूढ देहधारी शरीर धारण करने के लिए वीर्य रूप बीज से संयुक्त होकर योनि द्वार को प्राप्त होते हैं। दूसरे कोई अधम पुरुष मरण को प्राप्त कर यथाकर्म यथाश्रुत स्थाणु यानी वृक्षादि स्थावर भाव का अनुगमन करते हैं। तात्पर्य यह है कि यथाकर्म यानी जिसका जो कर्म है अथवा इस जन्म में जिसने जैसा कर्म किया है। उसके अधीन होकर तथा यथाश्रुत यानी जिसने जैसा विज्ञान उपार्जित है। उसके अनुरूप शरीर को ही प्राप्त होते हैं।

जिसने श्रवण द्वारा जैसा भाव उत्पन्न किया, उसके अनुसार कितने ही जीवात्मा देह धारणार्थ विभिन्न योनियों को प्राप्त होते हैं। इसमें योनि वैभिन्न्य का प्रयोग पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में पुनर्जन्म के सिद्धांत की पुष्टि इस प्रकार की है। कर्मफल से प्राप्त होने वाले विभिन्न शरीरों का विभिन्न लोकों में अनुक्रम से यह जीवात्मा प्राप्त करता है।²³

²¹ कठो.उप. १.१.३

²² वही.२.५.७

²³ श्वेता.उप.५.११

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार जिस प्रकार सुनार सोने के एक टुकड़े को लेकर उसे नविन या सुंदर आकृति दे देता है, उसी प्रकार जीवात्मा इस शरीर को त्याग कर और इस अज्ञान को दूरकर कोई नवीन रूप धारण कर लेता है। चाहे वह रूप प्रेतात्मा का हो, या देवताओं का हो, प्रजापति का हो, ब्रह्मा का हो या किसी अन्य सत्ता का। आत्मा वर्तमान शरीर को त्यागने से पूर्व अपने भावी शरीर को खोज लेती है। आत्मा इस अर्थ में सर्जनशील है की वह शरीर का सर्जन करती है। शरीर को बदल कर वह नवीन रूप धारण करती है। आत्मा के प्रत्येक जीवन की स्थिति उसके उससे पूर्व के जीवन के ज्ञान और कर्ता द्वारा प्रसिद्ध होती है।

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार जो जप, तप करते हैं और श्रद्धा रखते हैं वे आकाशमय मार्ग में प्रवेश करते हैं और मानवजीवन चक्र में पुनः नहीं लौटते। जो केवल आचारवान हैं, लोकोपयोगी कार्य करते हैं, वे धुएँ के मार्ग से जाते हैं और पितृलोक में रहते हैं। उसके बाद वे अपनी योग्यताओं के अनुसार पुनः जन्म लेते हैं।

बृहदारण्यक व छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार पुनर्जन्म से पहले जीवात्मा यथोचित स्थानों पर अपने कर्मों का पुरस्कार या दंड भोगता है। इस प्रकार स्वर्ग में पुरस्कार या दंड पाने का मूल वैदिक पक्ष पुनर्जन्म के सिद्धांत के साथ मिश्रित हो जाता है।

4.3 ब्रह्म की नाना रूपों में स्तुति : महत्त्व तथा तदुपादेयता

ऋषि कुत्सायन के द्वारा साक्षात्कृत यह देवस्तुति जिस रूप में प्राप्त होती है, उसी रूप में यहां गया है- तुम्ही ब्रह्मा हो, तुम्हीं विष्णु हो, तुम्हीं प्रजापति हो। अग्नि, वरुण और वायु संज्ञक देव तुम हो तथा तुम्हीं इन्द्र और चन्द्रामा हो। तुम्हीं मनु हो, तुम्हीं यम हो, तुम्हीं पृथिवी हो, तुम्हीं विश्व हो और तुम्हीं अच्युत हो। पुरुषार्थचतुष्टय रूप स्वार्थ में और अपनी-अपनी

प्रकृति के अनुसार इस लोक की विभिन्न प्रकार की सत्ता है। तथा स्वार्थ और स्वाभाविक कार्यों में जो लोक की प्रवृत्ति है, वह तुम्हारे अधीन ही है।

त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः।

त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः।

त्वमन्नस्त्वं यमस्त्वं पृथिवी त्वं विश्वं खमथामुच्युतः।

स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा संस्थितिस्त्वयि।²⁴

विष्णुस्त्वं - वेवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः वह सर्वत्र व्याप्त है, उसे विष्णु कहा जाता है। विष्णु का सबसे प्रसिद्ध कार्य है - तीन पग से सारे विश्व को नाप लेना।²⁵ यजुर्वेद का कथन है कि विष्णु ने तीन पग रखे और उसमे सारा संसार आ गया।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे।²⁶

अन्य एक मंत्र में कहा है कि उसने द्युलोक और पृथ्वी को रोका हुआ है। वह अपनी किरणों से पृथ्वी को चारों ओर से रोके हुए हैं।²⁷ विष्णु के तीन पद से अभिप्राय- प्रातः मध्याह्न और सायं। सूर्योदय से सूर्यास्त तक के ये तीन केंद्र-बिंदु हैं। इन तीनों बिंदुओं पर पहुंचना, पूरे भूलोक को नापना है। यह सारा विश्व एक विशाल त्रिभुज है। इसकी एक भुजा पृथ्वी है, दूसरी अंतरिक्ष और तीसरी द्युलोक। इस विशाल त्रिभुज में सारा संसार आ जाता है। विष्णु इसी त्रिभुज की तीनों भुजाओं में व्याप्त है, उसे त्रिविक्रम उरुक्रम, उरुगाय, त्रिषधस्थ आदि कहा जाता है। विष्णु का आध्यात्मिक अर्थ परमात्मा कहा गया है। उसका परम पद सर्वोच्च स्थान है। योगी और

²⁴ मैत्रा.आ.५.१

²⁵ ऋ.१.१५४.३

²⁶ यजु.५.१५

²⁷ यजु.५.१६

विद्वान् ही उस पद को प्राप्त कर पाते हैं।²⁸ उस परम मोक्ष में मधु का झरना है, अर्थात् वह ब्रह्मानन्द की स्थिति है। वह आनंद ही आनंद है। इसको ही गीता में विष्णु का परम धाम कहा गया है। यह योग की चरम अवस्था है। इसको धर्ममेघ समाधि की अवस्था कहते हैं।

रुद्र

उत्पत्ति के आधार पर रुद्र शब्द "रुद" धातु से निष्पन्न मन गया है, जिसका अर्थ है "रोना" ऋग्वेद में रुद्र का महत्त्व विष्णु से कम है परन्तु परवर्ती साहित्य में इनका महत्त्व अधिक बढ़ गया और अंत में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति में सम्मिलित कर लिया गया।

रुद्र शब्द को अन्य वैदिक शब्दों की तरह यौगिक मानकर महर्षि दयानन्द ने निम्नार्थ प्रस्तुत किए हैं।

- रोदयति दुष्टान् दण्डप्रदानेनेति रुद्रो न्यायकारी परमेश्वरः
- रोदयति शत्रूनि रुद्रो महावीरः – महान् वीरः
- रोदयति दुष्टानिति रुद्रोन्यायाधीशः- न्यायाधीशः²⁹

ऋग्वेद में रुद्र की स्तुति परक एक अत्यंत प्रसिद्ध मन्त्र है। जिसमें रुद्र के लिए त्रयम्बक शब्द का प्रयोग किया गया है। यह महामृत्युंजय मन्त्र रुद्र अध्याय में आता है तथा जप में इसका विशेष महत्त्व है। इस में रुद्र को पुष्टि तथा आयुर्वर्धक तथा अमंगलनाशक कहा है। और इस मन्त्र को मृत्यु से मुक्त कर अमर करने वाला कहा गया है। इनके अस्त्र-शस्त्र भयानक होने से ऋषि सदा आत्मरक्षा के लिए प्रार्थना किया करते हैं। उन्हें शिव कहकर इसलिए पुकारा गया है क्योंकि ये अपने उपासकों के प्रति उपकारी तथा मंगलकारी हैं। ऋग्वेद में मरुत तथा रुद्र की संयुक्त स्तुति का उल्लेख है। रुद्र को मरुतों का पिता कहा गया है।

²⁸ यजु. ६. ५

²⁹ निघण्टु निरुक्त १०. ५

तैत्तिरीय संहिता के अनुसार एक बार देवों का असुरों से युद्ध हुआ तो देवों ने अपना धन अग्नि के पास रख दिया। अग्नि की उस धन को लेने की इच्छा हुई। संग्राम के पश्चात् देवों ने बलात् अपना धन अग्नि से लेना चाहा। जिससे वह रो पड़ा इसलिए उसे ही रूद्र कहते हैं। वाजसनेयि संहिता में अम्बिका का को रूद्र की भगिनी कहा है। अम्बिका से युक्त होने के कारण उन्हें त्रयम्बक कहा जाता है। दिव्य गंध से युक्त रूद्र मनुष्यों को धन धान्य से पुष्ट करने वाले त्रयम्बक देव हमें उसी प्रकार मृत्यु के बंधन से मुक्त करे जैसे कोई पका हुआ फल अपनी डंडी से प्रकट हो जाता है। रूद्र को पशुओं का अधिपति भी कहा गया है। महानारायणों उपनिषद् के अनुसार रूद्र समस्त सृष्टि में जीवरूप से शरीर में व्याप्त है, सर्वत्र विद्यमान रूद्र देवता के लिए नमस्कार हो, प्रकृति और पुरुष के मध्य में जडात्मक प्रकृति में जो चेतनात्मक पुरुष, भक्तजनों को आनन्दित करने में रूद्रमूर्ति में अवभासित होता है, ऐसे सद्रूप रूद्र के लिए नमस्कार हो। जो सृष्टि तथा लय का हेतु है, ऐसे सर्वव्यापी तथा सर्वव्यापक रूद्र को नमस्कार हो।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है की जो अपनी शक्तियों से सब लोकों पर प्रभुत्व रखता है वह रूद्र एक ही है इसलिए अन्य का आश्रय ज्ञानियों ने नहीं लिया। वह देहधारियों में स्थित होकर लोक रचना करता हुआ सब की रक्षा करता है और सृष्टि के लय काल में सबको अपने भीतर समेट लेता है।

महानारायणोपनिषद् में रूद्र की पंचवक्त्र रूप में भी स्तुति की गई है। रूद्र के पांच वक्त्र पश्चिम वक्त्र, दक्षिण वक्त्र, उत्तर वक्त्र, पूर्व वक्त्र तथा ऊर्ध्व वक्त्र है। इसमें पश्चिम वक्त्र में सद्योजात नामक रूद्र रूप की स्तुति है। इसमें कहा गया है सद्योजात नाम वाले वक्त्र रूद्र को नमस्कार हो। तथा वे मुझे जन्म-मरणादि बंधनों से मुक्त कराते हुए तत्त्व ज्ञान के लिए प्रेरित करे। इसी प्रकार प्रत्येक वक्त्र के क्रमपूर्वक भिन्न-भिन्न स्तुति परक मन्त्र कहे गए हैं।

अन्नस्त्वं –

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि- अद्यतेऽस्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते।

पृथिवी का आश्रय लेने वाले जो सब प्राणी हैं, अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और पश्चात् अन्न से ही जीते हैं, और अन्त में वे इस अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। इसलिए अन्न ही सर्वभूतों में श्रेष्ठ है। इसलिए उसे सर्वोषधरूप कहते हैं। जो साधक अन्न की ब्रह्मभाव से उपासना करते हैं, वे अवश्य सभी प्रकार से अन्न को प्राप्त करते हैं। क्योंकि अन्न ही भूतों में श्रेष्ठ है। अन्न से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर अन्न से ही वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वह सब प्राणियों द्वारा खाया जाता है और अन्न भी प्राणियों को खाता है। इसलिए वह अन्न शब्द से कहा जाता है।³⁰

विश्वेश्वर मनस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृता। विश्वभुग्विश्वमायुस्त्वं विश्वक्रीडारतिप्रभुः।³¹

हे विश्वेश्वर ! तुम्हें नमस्कार है। तुम विश्वात्मा और समस्त कर्मों के अनुष्ठाता हो। तुम विश्व के भोक्ता हो, विश्व भी तुम्हीं हो, तुम्हीं आयु हो। अधिक क्या कहें इस विश्व की क्रीडा अर्थात् लीला और आनन्द तुम्हीं हो। शान्त स्वरूपवाले तुम्हें नमस्कार है। अत्यन्त गुप्तस्वरूपवाले हे प्रभो! तुम्हें नमस्कार॥

विश्वकर्म – यतो विश्वकर्मकृत्क्रियते तत्कर्म विश्वाख्यं कर्म कार्य करोतीति विश्वकर्मकृता। अर्थात् विश्व का सृजन, स्थिति और प्रलय का कार्य करने के कारण वह विश्वकर्मकृत कहलाता है।

विश्ववायुः – कौषितकी में कहा गया है – यावद्ध्रियस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः। इसमें इन्द्र कहते हैं कि – मैं स्वयं ही प्रज्ञारूप प्राण हूँ। उस प्राण से और श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त आत्मा रूप मैं प्रख्यात इन्द्र हूँ। तुम मेरी आयु रूप और अमृतरूप से उपासना करो। आयु ही प्राण है, प्राण ही आयु है, प्राण ही अमृतत्व है। इस शरीर में जब तक प्राण का निवास है, तभी तक आयु है। प्राण के द्वारा ही प्राणी अन्य लोक में अमृतत्व के विशेष सुख की अनुभूति कर सकता है।

³⁰ तैत्तिरीयोपनिषद् २.१.२

³¹ मैत्रा.आ. ५.१

क्रीडा – आचार्य रामतीर्थ के अनुसार क्रीडा वह प्रीति है, जिसमें बाह्य उपकरणों की आवश्यकता रहती है तथा रति आन्तरिक प्रेमानुभूति है।

नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च ।

अचिन्त्यायाप्रमेयाय अनादिनिधनाय चेति।³²

अर्थात् शान्तस्वरूपवाले तुम्हे नमस्कार है। अत्यन्त गुप्त स्वरूपवाले तुम्हें नमस्कार है। अचिन्त्य, अप्रमेय, अनादि और अनन्त स्वरूपवाले हे प्रभो! तुम्हें नमस्कार है।

ये नमस्कार मन्त्र है ,क्योंकि ये सभी प्रकार की उपासना के अंग है। आचार्य रामतीर्थ के अनुसार यहाँ सृष्टि से पहले सब कुछ तमोगुण मायामात्र वतलाय गया है। वह एकीभूत, अनभिव्यक्त नामरूपवाला था। अतः यहाँ असत्कारणवाद और असत्कार्यवाद दोनों का खण्डन किया गया है। अनादिनिधनाय - प्रसिद्ध वैयाकरण तार्किक भट्टहरि ने अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय में कहा है-

“ अनादिनिधानं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्

निवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः। ³³

यह ब्रह्म की यथार्थ सत्ता मानते हैं तथा ब्रह्म और शब्द को अभिन्न मानकर जगत् शब्द ब्रह्मा का विवर्त बताते हैं। इन्होंने शब्द ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् को अविद्याजनक कहा है। तमो वा इदमग्र आसीदेकम्। तत्परे स्यात्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्रूपं वै रजस्तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वस्य रूपम्। तत्सत्त्वमेवेरितं रसः सम्प्रास्त्रवत्।

सृष्टि से पूर्व यह समस्त जगत् केवल अन्धकार रूप था। वह अन्धकार परमतत्त्व अर्थात् चिदात्मा में स्थित था। परमात्मा के द्वारा प्रेरित होकर वह विषमता को प्राप्त करता है, अर्थात् कार्योन्मुख होता है। यही रजस् स्वरूप कारण है। परमात्मा के द्वारा रजोगुण को जब प्रेरित किया जाता है, तो वह विषमता को प्राप्त होता है- यह सत्त्वगुणप्रधान कारण का रूप अर्थात्

³² मैत्रा.आ.५.४

³³ वाक्यपदीयम् १.१.

प्रकार भेद है। वह सत्व प्रेरित होने पर रसरूप में प्रवाहित होता है। अर्थात् सच्चिदनन्दस्वरूप को प्राप्त करता है। प्रत्येक पुरुष में यह जो चैतन्य मात्र है, वही वह अंश है, जो क्षेत्रज्ञ है, जिसकी पहचान सङ्कल्प-अध्यवसाय और अभिमान आदि लक्षणों से होती है और जो विश्व प्रजापति संज्ञक है। पूर्व में उक्त देवता इसी के शरीर अथवा आकार है।

तैत्तिरीयोपनिषत् में कहा है - रसौ वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति।³⁴

अर्थात् उत्पन्न होने से पहले यह जगत् अव्यक्त ब्रह्मरूप ही था। उसी में से यह नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ। उस आत्मा ने स्वयं को ऐसा बनाया, इसलिए वह सुकृत् कहलाया। जो भी वह सुकृत है, वह रस ही है। इस रस को पाकर पुरुष आनन्द युक्त हो जाता है। यदि आकाश की भाँति आनन्दस्वरूप व्यापक परमात्मा न होता, कौन जीवित रह सकता था? कौन प्राणों की चेष्टा कर सक्ता था? वास्तव में यह परमात्मा ही सबको आनन्दित करता है। जिस समय साधक इस अदृश्य, अशरीरी, अनिर्वाच्य, पराश्रयरहित, परब्रह्मा परमात्मा में निर्भयतापूर्वक स्थिति प्राप्त करता है, उस समय वह अभयपद को प्राप्त करता है। क्योंकि जब तक तक लेशमात्र भी परमात्मा से वियोग रहता है, वहाँ तक मनुष्य को जन्म-मरणरूप भय बना रहता है। ऐसा भय केवल मूर्ख को नहीं होता, अपितु अभिमानी विद्वान् को भी होता है।

प्रजापतिर्विश्व – आचार्य ने प्रजापति को समष्टि वैराजपिण्ड अर्थात् समष्टि देह के अधिष्ठातृ देव बताया है। तथा विश्व को व्यष्टिपिण्डाभिमानि देवता।

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा –

नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।³⁵

³⁴ तै.उ. २.१

³⁵ बृहदारण्यकोपनिषद् ३.७.२३

याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं वहा अदृष्ट -न देखा हुआ अर्थात् किसी की भी नेत्रदृष्टि का विषयीभूत नहीं हैं, किंतु स्वयं नेत्र में सन्निहित होने के कारण दर्शनस्वरूप है, इसलिए द्रष्टा है।

इसी प्रकार वह अश्रुत -किसी के भी श्रोत्र की विशेषता को अप्राप्त किंतु स्वयं जिसकी श्रवण-शक्ति लुप्त नहीं होती-ऐसा है और समस्त श्रोत्रों में सन्निहित होने के कारण श्रोता है, ऐसे ही वह अमृत- मन के संकल्पों की विषमता को अप्राप्त है, क्योंकि सब लोग देखे-सुने पदार्थों का ही संकल्प करते हैं अतः अदृष्ट और अश्रुत होने के कारण ही वह अमृत हैं, तथा मनन शक्ति लुप्त ना होने से और समस्त मनो में सन्निहित होने के कारण वह मन्ता है।

इसी तरह अविज्ञात- रूपादि अथवा सुखादि के समान निश्चय की विषयता को अप्राप्त किंतु स्वयं जिसकी विज्ञान-शक्ति लुप्त नहीं है। ऐसा एवं बुद्धि में सन्निहित होने के कारण विज्ञाता है।

यहाँ जिसे पृथ्वी नहीं जानती जिसे समस्त भूत नहीं जानते इत्यादि कथन से यह बात सिद्ध होती है कि जिनका नियमन किया जाता है, वे विज्ञाता भिन्न है और उनका नियमन करने वाला अंतर्दामी उनसे भिन्न है। उनके भिन्नत्व की आशंका को निवृत्त करने के लिए यह कहा जाता है।

इस अंतर्दामी से भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है। इसी प्रकार इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। जिससे भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है, जो दिखाई न देने वाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मन का अविषय किंतु मनन करनेवाला है, स्वयं अविज्ञात किंतु विज्ञाता है तथा अमृत संपूर्ण संसारधर्मों से रहित एवं समस्त संसारियों के कर्मफलों का विभाग करने वाला है, वह तुम्हारा आत्मा अंतर्दामी अमृत है, ईश्वर आत्मा से भिन्न और सब विनाशी है।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्

अथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं रूद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं ब्रह्माऽथ यो ह खलु वावास्य सात्विकोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधा भूतोऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा वोभूत उभूतत्वाभूतं भूतेषु चरति प्रविष्टः स भूतानामधिपतिर्बभूवेत्यसा आत्माऽन्तर्बहिश्चान्तर्बहिश्च।

हे ब्रह्मचारियों वालखिल्य ऋषियों! इस आत्मा का जो तमोगुण प्रधान अंश है, वही यह रूद्र है, उसका रजोगुणात्म अंश ब्रह्मा है और जो उसका सत्वगुणात्मक अंश है, वही यह विष्णु है। इस प्रकार यह पहले जो एक था, वह बाद में क्रमशः तीन, आठ, ग्यारह और बारह तथा आगे अपरिमित रूपों में आविर्भूत होता चला गया। उद्भूत होने के कारण ही यह भूत कहलाता है, भूतों में सञ्चरण करता है उनमें प्रविष्ट है, और इसलिए वह भूतों का अधिपति है। इसप्रकार यह आत्मा अन्दर और बाहर अवस्थित है।

आठ, ग्यारह और बारह संख्याएँ क्रमशः वसुओं, रूद्रों और आदित्यों की उपलक्षक हैं। आचार्य रामतीर्थ के अनुसार अष्टधा का अभिप्राय पाँच प्राण, आदित्य, नक्षत्र सहित चन्द्रमा तथा पाँच महाभूत। इसी प्रकार ११ संख्या से वे ११ इन्द्रियों तथा १२ से उन्हीं इन्द्रियों के साथ मन और बुद्धि को ग्रहण करते हैं।

4.4 आदित्य की उपासना

द्विधा वा एष आत्मानं बिभर्त्ययं यः प्राणो यश्चासा आदित्यः। अथ द्वौ वा एता अस्य पन्थाना अन्तर्बहिश्चाहोरात्रेणैतौ व्यावर्तेते। असौ वा आदित्यो बहिरात्माऽन्तरात्मा प्राणोऽतो बहिरात्मक्य गत्याऽन्तरात्मनोऽनुमीयते गतिरित्येवं। अथ यः कश्चिद्विद्वानपहतपाप्माऽक्षध्यक्षोऽवदातमास्तन्निष्ठ आवृत चक्षुः सो अन्तरात्मक्या गत्या बहिरात्मनोऽनुमीयते गतिरेत्येवं ह्याह।

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो यः पश्यतीमाम्, हिरण्यवस्थात्, स
एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाऽश्रितोऽन्नमत्ति।³⁶

यह आत्मा को अपने को दो प्रकार से धारण करती है। इनमें से एक प्रकार है प्राण जो शरीर में पाँच रूपों में अवस्थित है। तथा दूसरा प्रकार है आदित्य –जो इस ब्रह्माण्ड रूपी पिटारे में संसार को प्रकाशित कर रहा है। आत्मा की विशेष अभिव्यक्ति के दो मार्ग हैं- एक देह के भीतर और दूसरा देह के बाहर अध्यात्म से अवस्थित है। ये प्राण और आदित्य दिन रात परिवर्तित होते रहते हैं। यह आदित्य बाह्यात्मा है और प्राण अन्तरात्मा है। इसलिए बहिरात्मा की गति से अन्तरात्मा की गति का अनुमान किया जाता है। अभिप्राय यह है कि सूर्य मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए दिन-रात में ब्रह्माण्ड के भीतर बदलता रहता है। इसी प्रकार प्राण भी शरीर के भीतर सञ्चार करता रहता है। दिन-रात में सूर्य की गति और प्राण की गति दोनों की संख्या समान बतलाई गई है। आगम ग्रन्थों में, वह है इक्कीस हजार इसे इस प्रकार से कहा गया है – जो कोई ,इसको जानते हुए, विनष्ट पापोंवाला, इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके उनका स्वामित्व प्राप्त कर लेनेवाला, उज्ज्वल चित्तवृत्तिवाला,उस उपास्य के प्रति निष्ठा रखनेवाला,विषयों की ओर से आँखों को मोड़ लेनेवाला विद्वान् व्यक्ति है, उसके द्वारा अन्तरात्मा की गति से बहिरात्मा का अनुमान कर लिया जाता है।

अन्तरात्मा की गति से बहिरात्मा का अनुमान कैसे किया जाता है, इस विषय में टीकार्कार रामतीर्थ ने दो प्रकार बतलाये हैं। पहले के अनुसार अध्यात्मिक और आधिभौतिक पिण्ड और ब्रह्माण्ड कि अपने-अपने परिमाण के अनुसार १०० वर्षों की आयु को आधार मानकर इसी के समकक्ष अध्यात्मगत प्राणात्मक गति से १०० वर्षों के अन्त में पिण्ड देह का परित्याग मानने से, बहिरात्मास्वरूप आदित्य की भी ब्रह्माण्डदेह का परित्याग करने की गति, उस परिमाण से, १०० वर्षों के अन्त में होनी चाहिए। दूसरा प्रकार यह है- जैसे प्राणात्मा की गति है देह को

³⁶ मैत्रा.आ.६.१

धारण करना तथा प्राणायाम इत्यादि क्रियाओं का करना, ठीक इसी प्रकार बाह्यात्मा आदित्य के द्वारा ब्रह्माण्ड को धारण करना, उदय और अस्त के अनुसार दिन-रात का विभाजन- इस प्रकार की गति का अनुमान भी किया जाता है।

इसे इस प्रकार से कहा गया है- जो यह अन्तःस्थ आदित्य मण्डल में ज्योतिर्मय हिरण्यमय अन्तर्यामी पुरुष है, वह हिरण्यमय अर्थात् तेजः समूहात्मक मण्डल में अवस्थित होने के कारण इन्हें पृथिवी प्रभृति लोकों को देखता रहता है और जो देह के भीतर हृदय-कमल में रहनेवाली प्राणात्मा है वह शब्दादि विषयों का उपभोग वहीं प्रकट होकर करती रहती है।

अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाऽश्रितोऽन्नमत्ति स एषोऽग्निर्दिविश्चितः सौरः कालाख्योऽदृश्यः सर्वभूतान्यन्नमितीति। कः पुष्करः किम्मयो वेति। उत्तरमाह प्रजापतिः इदं वाव तत्पुष्करं योऽयमाकाशोऽस्येमाश्चतस्रो दिश्चतस्र उपदिशो दलसंस्था आसम्।³⁷

जो यह हृदय कमल में आश्रित होकर विषयों का सेवन करता रहता है, वह द्युलोक में स्थित अग्नि है, यह सूर्य के तेज से सम्पन्न है, प्राणियों की गणना करने के कारण यह काल संज्ञक है, प्रत्यक्ष रूप से अदृश्य है, यह सभी भूतों का भक्षण करती है अर्थात् उन्हें अपने में समेट लेती है। यह कमल कौन-सा है और किससे युक्त है? यह जो आकाश है, वही कमल है। चार दिशाएँ और चार उपदिशाएँ ही इसकी पंखुडियाँ हैं। इस प्राण आदित्य हृदय और बाह्याकाश में इसके आसपास ही विचरण करते रहते हैं।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।³⁸

अर्थात् जो जगत् नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते-फिरते हैं, 'तस्थुषः' अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ अर्थात् पृथ्वी आदि है, उन सबके आत्मा होने और सर्वप्रकाशस्वरूप सबके

³⁷ मैत्रा.आ.६.२

³⁸ ऋ.१.११५.१

प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम सूर्य है। सूर्य का एक नाम सविता भी है। सविता का अर्थ 'सृष्टि करने वाला' होता है। निरुक्ताचार्य ने निरुक्त में कहा है- सविता सर्वस्य प्रसविता³⁹। -

भगवान् आदित्य को निरुक्त में द्युस्थानीय देवों में परिगणित किया गया है। ऋग्वेद के अनुसार भास्कर ही सृष्टि कर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हैं। भगवान् सूर्य समस्त स्थावर- जंगमात्मक विश्व के अन्तरात्मा हैं। आदित्य मण्डल के अन्तःस्थित सूर्य देवता सबके प्रेरक, अन्तर्यामी, परमात्मस्वरूप हैं। सम्पूर्ण स्थावर और जंगम के कारण सूर्य को उदय से अस्त तक दैनंदिन सृष्टि के प्रत्यक्ष ही उद्भावक, जागरणकर्ता, संचालनकर्ता तथा रात्रिकाल में प्रजावर्ग के शयन कर जाने पर उनको विश्राम देने वाला माना गया है। सूर्य की महिमा का वखान करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है-

आद्यं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरंपुरः। पितरं च प्रयन्तस्वः।⁴⁰

यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है इसलिए भूमि घुमा करती है। यजुर्वेद में ही कहा है -

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्मृतं मर्त्यं च। हिरण्येन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यानि॥⁴¹

जो सूर्यादि अर्थात् सूर्य, वर्षादि का कर्ता, प्रकाशस्वरूप, तेजोमय, रमणीयस्वरूप के साथ वर्तमान, सब प्राणी अप्राणियों में अमृतस्वरूप वृष्टि व किरण द्वारा अमृत का प्रवेश करा और सब मूर्तिमान् द्रव्यों को दिखलाता हुआ सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से यह वर्तमान, अपनी

³⁹निरुक्त..१०.३१

⁴⁰ यजु.३.६

⁴¹ यजु.३३.४३

परिधि में घूमता रहता है, किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता। वैसे ही एक-एक ब्रह्माण्ड में एक सूर्य प्रकाशक और दूसरे सब लोक-लोकान्तर प्रकाश्य हैं। कहा गया है-

दिवि सोमो अद्यंश्चिन्तः ।⁴²

जैसे यह चन्द्रलोक सूर्य से प्रकाशित होता है वैसे ही पृथ्वी आदि लोक भी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। परन्तु दिन और रात सर्वदा वर्तमान रहते हैं क्योंकि पृथ्वी आदि लोक घूमकर जितना भाग सूर्य के सामने आता है उतने में दिन और जितना पृष्ठ में, आड़ में होता जाता है उतने में रात। अर्थात् उदय, अस्त, संध्या, मध्याह्न, मध्य रात्रि जितने कालवयव हैं, वे देश-देशान्तरों में सदा वर्तमान रहते हैं। सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता के रूप में भगवान सूर्य या आदित्य देवाधिदेव, सर्वदेवात्मक, सम्पूर्ण विश्व के साक्षी, स्वामी, क्षण से लेकर युगादिकाल के प्रवर्तक, धाता, विधाता, पोषक, आप्यायक सम्पूर्ण विश्व के आधार, प्रकाश, ऊष्मा एवं जीवन के मूल स्रोत वायु, आकाश, आदि के मूल कारण, योगियों, तपस्वियों, मनस्वियों द्वारा एकमात्र प्राप्य तत्व, बालखिल्य, पंचशिख, शुकदेव तथा भक्तों, साधकों एवं उपासकों के (स्तोतव्य) स्तुत्य तथा प्राप्यस्थान के रूप में वेद, उपनिषद्, पुराणादि ग्रन्थों में निर्दिष्ट अंकित हैं। ऋग्वेद में कण्वतनय महर्षि कण्व ने सूर्यदेव की प्रार्थना करते हुए कहा है-

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुतरां दिवम् । हद्रोगं मम सूर्यहरिमाणं च नाशय ॥⁴³

हे सूर्यदेव ! आज उदय होते हुए और आकाश में अग्रसर होते हुए आप मेरे हृदय रोग को दूर कर दीजिए और शरीर की विवर्णता को नष्ट कर दीजिए।

⁴² अथर्ववेद. १४.१.१

⁴³ ऋ. १.५०.११

बृहदेवता नामक ग्रन्थ में शौनक ने सूर्य मन्त्र की महिमा में कहा है- उद्यन्नद्य इत्यादि मन्त्र सूर्य स्तुति परक है। इसका जप पापापहारी, रोगनाशक, विष-प्रभाव-विध्वंसक है एवं जागतिक, अभ्युदय आता पारमार्थिक निःश्रेयस विधायक भी है।

उपनिषदादि ग्रन्थों में भगवान् सूर्य के तीन रूप निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार एवं सगुण साकार रूपों का वर्णन अंकित करते हुए कहा गया है की यद्यपि भगवान् सूर्य निर्गुण-निराकार हैं तथापि अपनी माया-शक्ति के सम्बन्ध में सगुण-साकार भी हैं । उपनिषदों में भगवान् सूर्य के स्वरूप, महिमा आदि का विशद गूढ वर्णन अंकित है । छान्दोग्य उपनिषद् में सूर्योपासना से होने वाली आध्यात्मिक उन्नतियों का वर्णन करते हुए कहा गया है -

सविता की उपासना और ध्येय का निरूपण

अग्निदेव, गायत्री छन्द, त्रिवृत्स्तोम, रथन्तर साम, वसन्त ऋतु, प्राणवायु, नक्षत्रमण्डल तथा वसु संज्ञक आठ देवों का समूह इनका उदय पूर्व दिशा में होता है। अभिप्राय यह कि ये साकारस्वरूप में सूर्य अथवा सविता के पूर्व में उदित होते हैं- अतः पूर्व में इनसे परिवृत सविता का ध्यान करना चाहिए। ये तपते हैं, वर्षा करते हैं, सूर्य की स्तुति करते हैं और पुनः सूर्य में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। और सूर्य के मध्य में ही रहकर लोकों की देखभाल करते हैं। सूर्य अचिन्तनीय, निराकार, गहरा, आवृत, निर्दोष, ठोस, अपरिमेय, गुणातीत, शुद्ध, प्रकाशमय, सत्त्वादि तीनों गुणों की लीला का उपभोक्ता, निर्भय, निर्वृत्ति, योगीश्वर, सर्वज्ञाता, बुद्धिमान्, अवर्णनीय, सबका स्रष्टा, सबकी आत्मा, सभी का भोक्ता, सबका स्वामी और सभी के हृदयों का हृदय है।⁴⁴

इन्द्रदेव, त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदशस्तोम, बृहत्साम, ग्रीष्म ऋतु, व्यानवायु, सोम चन्द्रमा और रुद्र संज्ञक ग्यारह देवों का समूह इनका उदय दक्षिण दिशा से होता है। ये तपते हैं, वर्षा करते हैं, सूर्य

⁴⁴ मैत्रा.आ. ७.१

की स्तुति करते हैं, फिर उसी सूर्य में प्रवेश कर जाते हैं, और उसी के मध्य में रहकर लोकों की देखभाल करते हैं। भास्कर (सूर्य) अनादि, अनन्त, अपरिमित, दुसरो के द्वारा अनावृत, अन्य के द्वारा अनियोज्य, स्वतन्त्र, चिह्नरहित, निराकार, अनन्त शक्तिसम्पन्न, धाता (स्रष्टा) और प्रकाशमय है।

मरुत्संज्ञक देव, जगतीछन्द, सप्तदशस्तोम, वैरूपसाम, वर्षा ऋतु, अपान संज्ञकवायु, शुक्रतारा और आदित्यसंज्ञक (बारह देवों का गण) ये सभी पश्चिम से उदित होते हैं। ये तपते हैं। वर्षा करते हैं, सूर्य की स्तुति करते हैं और पुनः उसी सूर्य में प्रवेश कर जाते हैं। उसी के मध्य में रहकर लोकों की देखभाल करते हैं। वे विष्णुसंज्ञक उस सर्वोपरि धाम को भी देखते हैं, जो भय और शोकरहित, आनन्दमय, तृप्त, स्थिर, अचल, अमृत, अच्युत और ध्रुव अर्थात् अटल है।

विश्वेदेव संज्ञक देवगण, अनुष्टुप् छन्द, एकविंशस्तोम, वैराजसाम, शरद् ऋतु, समानवायु, वरुणतारा और साध्यसंज्ञक देवगण- इनका उदय उत्तर दिशा से होता है। ये तपते हैं, वर्षा करते हैं, सूर्य की स्तुति करते हैं, फिर उसी में प्रवेश कर उसके बीच से ही लोकों की देखभाल करते हैं। इससे वह शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त, प्राणरहित, निरात्मा और अनन्त है।

मित्र और वरुण संज्ञक देव, पङ्क्तिछन्द, त्रिणवस्तोम, तथा त्रयस्त्रिंशस्तोम, शाक्वर एवं रैवतसाम, हेमन्त तथा शिशिर ऋतुएँ, उदानवायु, अङ्गिरा और चन्द्रमा – ये ऊर्ध्व दिशा में उदित होते हैं, ये तपते हैं, वर्षा करते हैं, सूर्य की स्तुति करते हैं, फिर उसी में प्रवेश कर, उसके मध्य में रहकर लोकों की देखभाल करते हैं। वे प्रणव संज्ञक उस महानायक को जो सबका प्रणेता अर्थात् उन्नायक है, उसको भी देखते हैं। वह प्रकाशरूप, निद्रामुक्त, जरारहित एवं मृत्यु तथा शोक से परे हैं।

शनि, राहु, केतु, सर्पगण, यक्षवृन्द, राक्षससमूह, मानवसमुदाय, पक्षिवृन्द, हाथी और हथिनी इत्यादि (पशु) – ये अधोवर्तिनी दिशा से आविर्भूत होते हैं। ये तपते हैं, वर्षा करते हैं, स्तुति करते हैं, पुनः। सूर्य में प्रविष्ट हो जाते हैं, और वहाँ से उसे देखते हैं, जो प्रज्ञासम्पन्न, सभी वस्तुओं

को यथास्थान व्यवस्थित रूप से रखनेवाला, सबका अन्तःकरण अविनाशी, शुद्ध, पवित्र, चमकदार, क्षमाशील और शान्त है।¹ आदित्य- मण्डलस्थ ही सूक्ष्मरूप में हृदय में विराजमान है। वह वैश्वानररूप में उपास्य है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूर्य, मन और ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों से अगोचर है।

-----*****-----

पञ्चम अध्याय

ओम्, अन्न, कालः स्वरूप विमर्श

5.1 गायत्री की उपासना

5.2 आत्मयज्ञ की समालोचना

5.3 अन्न की उपासना

5.4 काल का स्वरूप

5.5 षडङ्गयोग विवेचन

5.1 गायत्री की उपासना

ओङ्कार का स्वरूप –

अर्वाग्विचरत एतौ प्राणादित्या एता उपासितोमित्येतदक्षरेणव्याहृतिभिः सावित्र्या चेति।

इनकी उपासना अविनाशी अक्षर ओङ्कार के द्वारा भूः, भुवः और स्वः इन व्याहृतियों तथा सावित्री मन्त्र से करनी चाहिए।

छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि –

वाचारम्भणं विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्¹

हे सौम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिंड के द्वारा संपूर्ण मृणमय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।

हे सौम्य! लोक में जिस प्रकार कमण्डलु और घट आदि के कारणभूत एक मृत्पिण्डके ज्ञान ले लिए जाने पर ही उसका विकारजात संपूर्ण मृन्मय अर्थात् मृत्तिका का कार्यसमूह जान लिया जाता है।

यहाँ पर शंका करते हैं मृत्तिका के पिण्डरूप कारण का ज्ञान होने पर अन्य कार्यवर्ग का ज्ञान कैसे हो सकता है?

समाधान में कहते हैं - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्य अपने कारण से अभिन्न होता है। तुम जो ऐसा मानते हो कि अन्य का ज्ञान होने पर अन्य नहीं जाना जा सकता, सो यह बात उस समय तो ठीक होती है जबकि कारण से कार्य भिन्न होता है किंतु इस प्रकार कार्य अपने कारण से भिन्न है नहीं।

शंका- तो फिर लोक में ऐसा क्यों कहा जाता है कि यह कारण है और यह इसका का विकार है?

समाधान- सुनो, यह वाचारम्भण अर्थात् वाणी पर ही अवलंबित है। कौन? नामधेय विकार- नामधेय पद में नाम शब्द से स्वार्थ में धेय प्रत्यय हुआ है।

वस्तुतः विकार नाम की कोई वस्तु नहीं है, यह तो केवल वाणी पर अवलंबित नाममात्र ही है सत्य तो एकमात्र मृत्तिका ही है।

हे सौम्य! जैसे एक लोहमणि सोने की ईंट के ज्ञान से सभी स्वर्णनिर्मित गहने जाने जा सकते हैं। वाणी के आश्रय में रहे हुए नामों के ही यह सब विकार है। वास्तव में तो यह सोना ही सत्य है।

¹ छा.१.१.७

उसी प्रकार आगे कहते हैं जिस प्रकार एक ही नखैनी नख काटने का औजार के ज्ञान से सभी लोहमय पदार्थ जाने जा सकते हैं। लोहोत्पन्न सभी पदार्थों का नाममात्र वाणी के आश्रय में रहे हुए विकार हैं। वास्तव में तो सत्य तो एक लोहा ही है।²

छांदोग्य उपनिषद् में ओंकार की उपासना करने का फल बताया है- जो विद्वान् उपासक इस उद्गीथ रूप अक्षर की उपासना करता है, वह संपूर्ण कामनाओं की प्राप्ति कराने वाला होता है।

जैसा कि उसकी जिस-जिस प्रकार उपासना करता है वैसा ही हो जाता है।

ओंकार ही अनुज्ञाक्षर है। जो अनुज्ञा हो और अक्षर भी हो उसे अनुज्ञाक्षर कहते हैं। अनुज्ञा अनुमति का नाम है, अर्थात् ओमकार अनुज्ञा है। वह अनुज्ञा किस प्रकार है ? तो कहते हैं -लोक में कोई विद्वान् या धनी पुरुष जिस किसी ज्ञान अथवा धन के लिए अनुमति देता है तो उस संबंध में अपनी अनुमति देते हुए वह ॐ ऐसा ही कहता है। लोक में भी "मैं तेरा यह दान देता हूँ" ऐसा कहने पर ॐ ऐसा ही कहते हैं।

अतः अर्थात् यही समृद्धि है जो कि अनुज्ञा कहलाती है। जो अनुज्ञा है वही समृद्धि क्योंकि अनुज्ञा समृद्धिमूलक होती है। समृद्ध पुरुष ही ऐसी अनुज्ञा देता है जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि उनका समृद्धि गुणवाला है। जो ऐसा जानने वाला पुरुष इस अक्षर की उपासना करता है, वह समृद्धिगणयुक्त वस्तु का उपासक होने के कारण उसके ही समान धर्मवाला होकर अपने यजमान की कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है।

ओंकार की स्तुति

इसके बाद श्रुति उस अक्षर में रुचि उत्पन्न करने के लिए उसकी स्तुति करती है क्योंकि वह उपास्य है। उस अक्षर से ही ऋग्वेदादि रूप त्रयीविद्या प्रवृत्त होती है। ॐ ऐसा कह कर ही अध्वर्यु आश्रावण करता है , ॐ ऐसा कहकर ही होता शंसन करता है तथा ॐ कहकर ही उद्गाता

² छा.उप. ६.१.३

उद्धाटन करता है। इस अक्षर की पूजा के लिए ही संपूर्ण वैदिक कर्म है। इसकी महिमा और रस (व्रीहि-यवादि हवि) के द्वारा सब कर्म प्रवृत्त होते हैं। वह कर्म भी इस अक्षर की अपचिति -पूजा के लिए है, क्योंकि वह परमात्मा का प्रतीक है, अतः उसकी पूजा परमात्मा की ही पूजा है, जैसा कि "अपने कर्म से उसका पूजन करके मनुष्य सिद्धि लाभ करता है" यह स्मृति से सिद्ध होता है।

तथा इस अक्षर की महिमा- महत्व यानी ऋत्विज् एवं यजमान आदि के प्राणों से ही इस अक्षर के रस व्रीहि-यवादि से निष्पन्न हुए हविष्य से ही वैदिक कर्म संपन्न होते हैं। तो क्या वे प्राण और हवि उस अक्षर के विकार है ? इस पर कहते हैं- वे यागहोमादि इस अक्षर के उच्चारण पूर्वक ही किये जाते हैं। वे क्रम आदित्य को प्राप्त होते हैं। फिर उससे वृष्टि आदि क्रम से प्राण और अन्न की उत्पत्ति होती है तथा प्राण और अन्न से यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है। इसलिए इस अक्षर की महिमा से और रस से ऐसा कहा गया है।³

यद्ब्रह्म तज्ज्योतिः प्रकाशस्वभावं यत्तज्ज्योतिर्ब्रह्माख्यं स आदित्य सूर्यः येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः इति श्रुतेः।⁴⁵

ब्रह्म प्रकाश से ही सबको प्रकाश की प्राप्ति होती है इसका उल्लेख किया गया है।

वह चेतनों में चेतन किस प्रकार है यह बतलाया है-

उस परमात्मा में, सब का प्रकाशक होने पर भी सूर्य प्रकाशित नहीं होता, अर्थात् वह ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करता। अपितु वह उस सर्वात्मा ब्रह्म के प्रकाश से ही सब रूपों को प्रकाशित करता है, क्योंकि उसमें स्वयं प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं है। तथा न चंद्र और तारे एवं न विद्युत ही वहाँ प्रकाशित होते हैं। फिर हमें दिखाई देने वाला यह अग्नि तो प्रकाशित हो ही कैसे सकता है? अधिक क्या यह जो जगत् भास रहा है, स्वतः प्रकाश रूप होने के कारण उस

³ छा.उप. १.१.७

⁵ छा.१.३.१

परमात्मा के प्रकाशित होने से ही प्रकाशित हो रहा है, जिस प्रकार लोहा आदि पदार्थ जलाने वाले अग्नि के साथ उसी की शक्ति से जलाते हैं स्वतः नहीं। यह सब सूर्य आदि उसके ही प्रकाश यानी दीप्ति से प्रकाशित होते हैं कहा भी है- जिसके तेज से युक्त होकर सूर्य तपता है, उसे न सूर्य प्रकाशित करता है न चंद्रमा और न अग्नि ही इत्यादि।⁶

गीता में भी कहा गया है कि उस तेजोमय धाम को यानी परम पद को सूर्य-आदित्य सब को प्रकाशित करने की शक्तिवाला होने पर भी प्रकाशित नहीं कर सकता। वैसे ही शशांक और पावक-अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकते। जिस परमधाम को पाकर मनुष्य पीछे नहीं लौटते और जिसको सूर्यादि ज्योतियां प्रकाशित नहीं कर सकतीं, वह मुझ विष्णु का परमधाम पद है।⁷

आदित्य दृष्टि से उद्गीथ उपासना

क्योंकि वह ओंकार अनेक प्रकार से उपासनीय है। जो कि यह आदित्य तपता है, उसके रूप में उद्गीथ की उपासना करे। 'तमुद्गीथम्' इसमें उद्गीथ शब्द अक्षरवाचक होता हुआ किस प्रकार आदित्य में सगत होता है? यह बतलाया गया है।

यह आदित्य उदित होता हुआ ऊपर की ओर जाता हुआ प्रजा के लिए -प्रजा के अन्न की उत्पत्ति के लिए उद्गान करता है, क्योंकि उसके उदित ना होने पर श्रीहरि आदि की निष्पत्ति नहीं हो सकती, जिस प्रकार उद्गाता अन्न के लिए उद्गान करता है, उसी प्रकार वह उद्गान करने के समान उद्गान करता है। अतः सूर्य उदित है यह इसका तात्पर्य है।

इसके सिवा, वह उदित होकर रात्रि के अंधकार और उससे होने वाले प्राणियों के भय का भी नाश करता है। जो इस प्रकार के गुणों से युक्त सविता की उपासना करता है, वह जन्म-मरणादि

⁶ श्वेता. उप. ६.१४

⁷ गीता १५.६

रूप आत्मा के भय और अंधकार का अर्थात् उसके कारणभूत अज्ञान का नाश करने वाला होता है।

दूसरे श्लोक में कहा गया है गुण दृष्टि से प्राण सूर्य के सदृश ही है तथा सूर्य प्राण के सदृश है, क्योंकि यह प्राण उष्ण है और वह सूर्य भी उष्ण है। तथा इस प्राण को 'स्वर' ऐसा कह कर पुकारते हैं और उस सूर्य को 'प्रत्यास्वर' वर्ग ऐसा कहते हैं, क्योंकि प्राण तो केवल स्वरण(गमन)ही करता है। मरने के पश्चात वह पुनः लौटता नहीं, किंतु सूर्य प्रतिदिन अस्तमित हो-होकर लौट आता है, इसलिए वह प्रत्यस्वर है। इस प्रकार गुण और नाम से भी यह प्राण और आदित्य एक दूसरे के तुल्य ही है। अतः तत्त्वतः अभेद होने के कारण इस प्राण और उस सूर्यरूप से उद्गीथ (ओंकार) की उपासना करें।⁸

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्वि किञ्चाजानात्योमित्येव तदाह ।

ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त अर्थात् अर्थात् कारण और कार्य इनमें से जो मूर्त है, वह असत्य है और जो अमूर्त है, वह सत्य है। वही ब्रह्म है, वही ज्योति प्रकाश स्वरूप है। जो ज्योति है, वह आदित्य है। वह आदित्य ही ओङ्कार स्वरूप में प्रकट हुआ। ओङ्कार गत अ,उ,म्, रूप में उसने अपने को तीन प्रकार से विभक्त कर लिया। इन्हीं तीन मात्राओं अथवा अवयवों से सब कुछ ओत-प्रोत है। वह भी जो इसमें है। जैसे – पट- पट तभी कहलाता है, जब उसमें लम्बे धागे चौड़ाई के धागों से परस्पर गुंथे हों, ठीक उसी प्रकार ओङ्कार में सब कुछ अनुस्यूत है। इसीप्रकार से कहा है- यह आदित्य ओङ्कार ही है, इस प्रकार से ध्यान करते हुए साधक अपने को युक्त करे।

⁸ छा. १.३.१

अथान्यत्राप्युक्तमथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः। इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणवा इत्येवं ह्याहोद्गीथं प्रणवाख्यं प्रणेतारं भारूपं विगतनिद्रं विजरं विमृत्युं त्रिपदं त्र्यक्षरं पुनः पञ्चधा ज्ञेयं निहितं गुहायामित्येवं ह्याह।

ऊर्ध्वमूलं त्रिपाद्ब्रह्म शाखा आकाशावाय्वग्न्युदकभूम्यादय एकोऽश्वत्थनामैतद्ब्रह्मैतस्यैततेजो यदसा आदित्यः। ओमित्येतदक्षरस्य चैतत्। तस्मदोमिनेनैतदुपासीताजस्रमिति। एकोऽस्य सम्बोधयितेत्येवं ह्याह।⁹

एतदेवाक्षरं पुण्यमेदेवाक्षरं परम्।

एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य।¹⁰

और अन्यत्र भी कहा गया है। यह जो उद्गीथ है। तात्पर्य यह है कि सामगान करनेवालों की उद्गीथभक्ति का अवयव ओङ्कार ही ऋग्वेदियों के शस्त्र का अङ्भूत प्रणव है, अर्थात् सामवेदी जिसे उद्गीथ कहते हैं, ऋग्वेदी उसे ही प्रणव कहते हैं। यह आदित्य उद्गीथ कहते हैं, यह प्रणव है, उसी प्रकार से कहा गया है- प्रणव संज्ञक उद्गीथ प्रणेतार अर्थात् सन्मार्ग पर ले जानेवाला। प्रकाशस्वरूप, निद्रारहित, वृद्धावस्था से रहित, मृत्युहीन, तीन पदों वाला, तीन अक्षरों वाला, और पुनः पाँच प्रकार से हृदय गुहा में निहित है- यह समझना चाहिए। इसी प्रकार से हृदय गुहा में निहित है। यह समझना चाहिए।

इसी प्रकार से कहा गया है- यह जो अश्वत्थ नामक ब्रह्म है, उसके तीन पाद हैं। उसका मूलभाग, अर्थात् जड़वाला हिस्सा ऊपर के लोकों में है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इत्यादि उसकी शाखाएँ हैं। यह ब्रह्म है। यह जो आदित्य है, वह उसी का तेज है और ओम् अक्षर का भी तेज वही आदित्य है। इसलिए इस आदित्य की उपासना निरन्तर ओङ्कार रूप से ही करनी चाहिए। इस ओङ्कार के महत्व का ठीक-ठीक ज्ञान करानेवाला यह मन्त्र है-

⁹ मैत्रा. आ. ६. ४

¹⁰ वहीं. ६. ४

यह ओङ्कार अक्षर अत्यन्त पुण्यप्रद और परब्रह्म का प्रकाशक है। इस अक्षर के ज्ञान से साधक की जो भी इच्छा होती है, वह पूर्ण हो जाती है। और अन्यत्र भी कहा गया है। इस आदित्यात्मक और प्राणात्मक आत्मा की यह ओङ्कारस्वरूप देह नादमयी है। इसके स्त्री, पुरुष, और नपुंसक- ये तीनों लिङ्ग हैं।

अग्नि, वायु और आदित्य रूप में यह देह दीप्तिमयी रहती है। ब्रह्मा, रुद्र, और विष्णु के रूप में यह आधिपत्यसम्पन्न है। गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि संज्ञक तीनों अग्नियाँ इसके मुख हैं। ऋक्, यजुष् और साम के रूप में यह शरीर विज्ञानवान् है। भू (पृथिवी) भुवः (अन्तरिक्ष) और स्वः (स्वर्ग) ये तीनों इसके लोक हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों इसके काल हैं। प्राण, अग्नि और सूर्य इन तीन तापों से युक्त होने के कारण यह शरीर प्रतापवान् है। अन्न, जल और चन्द्रमा- इन तीनों से यह शरीर अप्यायित अर्थात् तृप्त तथा सन्तुष्ट है। बुद्धि, मन और अहङ्कार- इन तीनों से युक्त होने के कारण यह शरीर चैतन्यवान् है। प्राण, अपान और व्यान इनसे युक्त होने के कारण यह शरीर प्राणवान् है। इसलिए ओम् कहने से ये सभी सभी प्रस्तुत, पूजित और अर्पित हो जाते हैं। इसप्रकार से यह बतलाया गया है- हे सत्यकाम यह ओङ्कार अक्षर है, वही पर तथा अपर ब्रह्म है। अर्थात् परापर ब्रह्म के ज्ञान के लिए ओम् अक्षर आलम्बन है।

गोपथ ब्राह्मण में ओम् का महत्व बताया गया है-

ओम् ब्रह्म का पर्याय है। ओम् शब्द आप् (पाना) धातु से बना है। यह सर्वव्यापी है। ओम् के अ से भू और ऋग्, उ से अन्तरिक्ष और यजुः, म् से द्युलोक और साम उत्पन्न हुए। इसप्रकार ओम् से सारी सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति हुई।

ओम् इत्येतद् अक्षरं सर्वव्यापि ब्रह्म¹¹।

ओम् के जप का महत्व – इसमें कहा गया है कि शान्तचित्त होकर एक हजार बार ओम् का प्रतिदिन जप करने से सारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

¹¹ गोपथ ब्रा. १.१.१६

एतदक्षरं सहस्रकृत्व आवर्तयेत्, सिध्यन्त्यस्यार्थाः सर्वकर्माणि च।¹²

गायत्री का महत्व- गायत्री वेदों की माता है। गायत्री की उपासना से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। गायत्री का विराट् रूप सारा संसार है। द्यु, भू, अन्तरिक्ष सभी गायत्री के रूप हैं। गायत्री का जप सर्व सिद्धिप्रद है।

सोऽपहतपाप्माऽनन्तां श्रियम् अश्नुते। यः वेदानां मातरं सावित्रीम् उपास्ते।¹³

ओम् –गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्मवादी मंत्र के आरम्भ में ओम् अवश्य बोलते हैं। इससे शोक-भय आदि दूर होते हैं। “ब्रह्मवादिनः ओंकारम् आदितः कुर्वन्ति” ओंकारः पूर्व उच्यते”¹⁴

गोपथ ब्राह्मण में गायत्री उपनिषद् है। इसमें सविता और सावित्री के युगल के द्वारा मन-वाणी, अग्नि-पृथिवी आदि के सूक्ष्म संबन्धों का वर्णन किया गया है।

अथाव्याहृतं वा इदमासीत्स सत्यं प्रजापतिस्तपस्तप्त्वाऽनुव्याहरद्भूर्भुवः स्वरित्येषैवास्य प्रजापतेः स्थविष्ठा तनूर्या लोकवतीति स्वरित्यस्याः शिरो नाभिर्भुवो भूः पादा आदित्यश्चक्षुः। चक्षुरायत्ता हि पुरुषस्य महती मात्रा चक्षुषा ह्ययं मात्राश्चरति।

सत्यं वै चक्षुरक्षिण्यवस्थितो हि पुरुषः सर्वार्थेषु चरति। एतस्माद्भूर्भुवः स्वरित्युपासीतानेन हि प्रजापतिर्विश्वात्मा विश्वचक्षुरिवोपासितो भतीत्येवं ह्याह। एषा वै प्रजापतेर्विश्वभृत्तनूः।

एतस्यामिदं सर्वमन्तर्हितमस्मिंश्च सर्वस्मिन्नेषाऽन्तर्हितेति। तस्मादेषोपासीत।¹⁵

और पहले यह सब जगदादि अव्याहृत अर्थात् नामादि से रहित था। प्रजापति ने तपोनुष्ठानपूर्वक इस अस्तित्वयुक्त जगदादि का भूः भुवः और स्वः इन तीन शब्दों से क्रमशः कथन किया। इन प्रजापति का सबसे स्थूल शरीर वही है, जो लोकों से युक्त है। इस शरीर का शिर स्वःस्वर्ग है, इसकी नाभि भुवः अन्तरिक्ष है और भूः इसके चरण हैं। आदित्य इसका नेत्र है। बड़े परिमाण में

¹² गोपथ ब्रा. १.१.२२

¹³ गोपथ ब्रा. १.१.३९

¹⁴ गोपथ ब्रा. १.१.२३

¹⁵ मैत्रा. आ. ६.६

पुरुष चक्षुओं पर ही निर्भर है अर्थात् आँखों के बिना उसकी गतिविधियाँ बड़ी मात्रा में नहीं हो पाती। आँखों से नाप-तौल करके ही यह कदम रखता है। नेत्र ही सत्य भी है, क्योंकि पर निर्भर होकर ही पुरुष समस्त कार्य-व्यवहार करता है। इस कारण भूःभुवःऔर स्वः-इनकी उपासनी करनी चाहिए। इस उपासना से जैसे विश्वात्मा प्रजापति, जो सम्पूर्ण जगत् का चक्षु है, उसकी ही उपासना हो जाती है। इसीप्रकार से कहा गया है। प्रजापति का यह सूर्य स्वरूप पूर्वोक्त शरीर सम्पूर्ण विश्व का भरण-पोषण करने वाला है। इसी में यह सम्पूर्ण जगत् अन्तर्निहित है तथा इस जगत् में प्रजापति का सम्पूर्ण शरीर समाया हुआ है। इसलिए इसकी उपासना करनी चाहिए।

तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सविता स वा एवं प्रवरणीय
आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गो देवस्य धीमहि सविता वै देवस्ततो योऽस्य भर्गाख्यस्तं
चिन्तयामीत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ धियो यो नः प्रचोदयादिति बुद्धयो वै धियस्ता योऽस्माकं
प्रचोदयादित्याहुर्ब्रह्मवादिनः।¹⁶

तत्सवितुर्वरेण्यम् - सविता देव यह आदित्य ही है। ब्रह्मवादियों का कथन है कि जो आत्मा की कामना करता है, उसे उसका वरण प्रकृष्ट रूप से करना चाहिए। वे हमारी बुद्धियों को प्रेरित करें।

ऋग्वेद में भी कहा गया है- जो हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं, उन सविता देवता के वरण करने योग्य, विकारनाशक, दिव्यता प्रदान करने वाले तेज को हम धारण करते हैं।¹⁷

यजुर्वेद में कहा गया है- उस प्राण स्वरूप, दुःख-नाशक, सुखस्वरूप, प्रकाशवान्, श्रेष्ठ, तेजस्वी, देवत्व प्रदान करने वाले परमात्माका ध्यान करते हैं, जो वह हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की प्रेरित करे।¹⁸

¹⁶ वहीं. ६.७

¹⁷ ऋ. ३.६२.१०

¹⁸ यजु. ३६.३ भूर्भुवःस्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

मनुस्मृति में कहा है-

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।

वेदत्रयान्निरदुहद भूर्भुवः स्वरितीति च।¹⁹

ओम् भूर्भुवः स्वः। अकार, उकार और मकार के योग से ओम् यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के नामों में उत्तम नाम है, जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं। जैसा पिता पुत्र का प्रेम सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। इस एक नाम से ही परमात्मा के सब नामों का बोध हो जाता है।

अकार से विराट् – जो विविध जगत् का प्रकाश करने वाला है। अग्निः – जो ज्ञानस्वरूप और सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। विश्वः- जिसमें सब जगत् प्रवेश कर रहा है, और जो सर्वत्र प्रविष्ट है, इत्यादि नामार्थ अकार से जानना चाहिए।

उकार से – हिरण्यगर्भः जिनके गर्भ में प्रवेश करने वाले सूर्यादि लोक हैं और जो प्रकाश करनेहारे सूर्यादि लोकों का अधिष्ठान है, इससे ईश्वर को हिरण्यगर्भ कहते हैं। हिरण्य के नाम ज्योति, अमृत और कीर्ति है। वायुः – जो अनन्त बलवाला और सब जगत् का धारण करनेहारा है। तैजसः- जो प्रकाशस्वरूप और सब जगत् का प्रकाशक है, इत्यादि अर्थ उकार मात्रा से जानना चाहिए।

मकार से- ईश्वरः- जो सब जगत् का उत्पादक , सर्वशक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है। आदित्यः – जो नाशरहित है। प्राज्ञः –जो ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है।

भूरिति वै प्राणः- जो सब जगत् के जीवन का हेतु और प्राण से भी प्रिय है, इससे परमेश्वर का नमः भूः है।

¹⁹ मनुस्मृति. २.७६

भुवरित्यपानः – जो मुक्ति इच्छा करनेवालों, मुक्तों और अपने सेवक जनों को दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है, इसलिए परमेश्वर का नाम भुवः है।

स्वरिति व्यानः – जो सब जगत् में व्यापक होके सबको नियम में रखता है और सबके ठहरने का स्थान तथा सुखस्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम स्वः है।

गायत्री मन्त्र का अर्थ बताते हैं - जो सब जगत् का उत्पन्न करनेहारा और ऐश्वर्य का देनेवाला है, देवस्य – जो सबके आत्माओं का प्रकाश करनेवाला और सब सुखों का दाता है, उसका जो अत्यन्त ग्रहण करने योग्य, धुद्ध, विज्ञानस्वरूप है, उसको हम लोग सदा प्रेमभक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें। वह परमेश्वर हमारी बुद्धियों को बुरे कार्यों से अलग करके सदा उत्तम कार्यों में प्रवृत्त करें।²⁰

वास्तव में वेद का यही स्वरूप है। आकाशगत परम तेज ही हृदयाकाश में सन्निहित है। इस तेज का कथन तीन प्रकार से किया गया है- अग्नि में, आदित्य में और प्राण में। यह जो ओम् अक्षर है, यही उसका वास्तविक स्वरूप है, जो आकाशगत होने पर भी हृदयान्तर्गत है। इसी ओम् अक्षर से वह जाग्रत होता है, उदित होता है, और उच्छ्वास लेता है। निरन्तर ब्रह्मविषयिणी बुद्धि उपासना का वह आलम्बन बन जाता है। ओङ्कार श्वास लेने के समय, प्रकाश को आगे बढ़ाते हुए आन्तरिक ऊष्मा उष्णता का स्थान ले लेता है-जैसे श्वास लेने पर धुआँ आकाश में क्रमशः उठकर एक स्कन्ध तने से दूसरे स्कन्ध का अनुसरण करता है।

यह उसी प्रकार की स्थिति है- जैसे पानी में नमक को डालना, अथवा घी को आग पर तपाना। जैसे उपासक की उपासना का विस्तार होने पर (सङ्कल्पमात्र से उसके सभी कार्य हो जाते हैं। इस विषय में यहाँ यह उद्धरण दिया जाता है और ओम् को वैद्युत क्यों कहा जाता है क्योंकि यह उच्चारण मात्र से ही सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित कर देता है। अत एव ओम् इस अक्षर की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यह अपरिमित तेज से युक्त है।

²⁰ दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह पृ. २७

अथ भर्ग इति यो ह व अमुष्मिन्नादित्ये निहितस्तारकोऽक्षिणि वैष भर्गाख्यः। भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गः। भर्जयतीति वैष भर्ग इति रूद्रो ब्रह्मवादिनः। अथ भ' इति भासयति माँल्लोकान् इति रन्जयतीमानि भूतानि ग् इति गच्छत्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद्भूरगत्वाद्भुर्गः।

अब भर्ग का अर्थ स्पष्ट किया जा रहा है- भर्ग उसे कहते हैं, जो इस आदित्य में निहित है तथा आँख में तारक तथा पुतली की तरह है। भर्ग की व्युत्पत्ति है- भाभिः गतिः अस्य - अर्थात् प्रकाश के माध्यम से जिसकी गतिविधियाँ होती हैं। ब्रह्मवादियों का कथन है कि रूद्र का नाम भी भर्ग है, क्योंकि वे भर्जन करते हैं अर्थात् भूतते हैं। अब भर्ग गत पदांशों की व्याख्या पृथक्-पृथक् की जा रही है-

भ वह तत्व है जो इन लोकों को प्रकाशित करता है।

र वह तत्व है जो इन लोकों को रंग देता है।

ग से तात्पर्य है कि प्रजाएँ इसमें जाती हैं और इससे बाहर आती हैं। भर्ग पद इन्हीं भ, र और ग इन अंशों से मिलकर बना है

5.2 आत्मयज्ञ की समालोचना

मैत्रायणी आरण्यक के उपर्युक्त अनुच्छेद में एक विशेष प्रकार के आत्मयज्ञ का निरूपण है। यज्ञविज्ञान के विकास के सन्दर्भ में इस विवरण का विशेष महत्व है।

विश्व अर्थात् अनेक रूपोंवाले, हरिण सूर्यस्वरूप, जातवेदस अग्नि, परायण, परमधाम, ज्योतिष्मान, अकेले और तपते हुए इस आत्मतत्त्व के ज्ञान के लिए साधक को सर्वात्मना प्रयत्न करना चाहिए। यह जो हजारों किरणों से युक्त और सैकड़ों प्रकार से विद्यमान सूर्य उदित हो रहा है, वह वास्तव में लोगों का प्राण ही है।

इस प्रकार यह आत्मा ही आत्मा और परमात्मा के क्रम से उभयात्मक है ऐसे ज्ञान से युक्त साधक आत्मा में ही ध्यान करता है, आत्मा में ही यज्ञानुष्ठान करता है। यही ध्यान है इस प्रकार के प्रकृष्टयोग में स्थित मन की तत्त्वज्ञाताओं ने प्रशंसा की है। मन की शुद्धि उच्छिष्ट से प्रभावित हो जाती है, इस कारण उसे पवित्र करना चाहिए। साधक मंत्र पढ़ता है--मेरा जो मन उच्छिष्ट हो गया है, अथवा उच्छिष्ट वस्तु के प्रभाव से प्रभावित हो गया है, पापग्रस्त हो गया है, अथवा जन्म-मरणजन्य आशौच से अशुद्ध है, उसे वसुधारा अग्नि, सवितृदेव और उनकी किरणें पवित्र करें।

मैंने जो अशुद्ध अन्न खाया हो, अन्य जो दुष्कर्म किया हो, उस सब दोष का निराकरण कर देवगण मुझे पवित्र करें। जल से पहले ही शुद्ध किये गए अधोवस्त्रों को पहने।

निम्नलिखित पांच मंत्र पढ़कर -- प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पांच के लिए होम करें--प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा।

वाणी को नियंत्रित करके अर्थात् मौन व्रत का पालन करते हुए होमावशिष्ट खाद्यपदार्थों को खाये। इसके बाद धुले हुए ऊपर के वस्त्र पहनें। आचमन करके दो मंत्रों--'आत्मेज्यानः प्राणः' प्राण आत्मा में यज्ञानुष्ठानरत है तथा 'अग्निर्विश्वोऽसि अग्नि सब कुछ है, वह तुम हो से आत्मा का ध्यान करें।

जो प्राण है, अग्नि है, परमात्मा है, पञ्चवायु से युक्त है, सब में आश्रित है, विश्व का भोक्ता है, वह प्रसन्न होकर सबको प्रसन्न करे। तुम विश्व हो, वैश्वानर हो, यह उत्पन्न होता हुआ विश्व तुम्हारे द्वारा ही धारण किया जाता है। समस्त आहुतियाँ तुम में वहाँ प्रवेश करें, जहाँ समस्त प्रजा है,

विश्व के अमृततत्त्व तुम ही हो! इस प्रकार की विधि से अन्नग्रहण करने वाला साधक पुनः अन्नत्व को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् वह स्वयं किसी का भक्ष नहीं बनता।

इसके बाद अन्य तत्त्वों का विचारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह आत्मयज्ञ का बाद में होने वाला विकार अर्थात् परिणाम है, जैसे अन्न और अन्न को खानेवाला। इसकी स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार है--पुरुष ही चेता, प्रधान और अंतःस्थ है। वही भोक्ता अर्थात् प्रकृतिजन्य अन्न को ग्रहण करने वाला है। यह भूतात्मा ही उसका अन्न है। इसका कर्ता प्रधान अर्थात् प्रकृति है, इसलिए तीन गुणों का समूह भोज्य है। भोक्ता पुरुष अंतःस्थ है। यहाँ दृष्ट नामक प्रत्यय अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि पशुगण बीज से उत्पन्न होते हैं, इसलिए बीज भोज्य है।

इसी से प्रधान के बीज होने की व्याख्या हो गई। इसलिए भोक्ता पुरुष है। प्रकृति भोग्या है। प्रकृति पर स्थिति पुरुष उसका भोग करने वाला है। तीन गुणों के भेदों का परिणाम होने के कारण प्रकृतिजन्य अन्न महत तत्त्व बुद्धि से लेकर विशेषतत्त्व तक लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक हेतु है। ये चेतन के अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं। इसी से इन्द्रियों की प्रवृत्ति के चौदह मार्गों दस बाह्योन्द्रियों की प्रवृत्ति के मार्गों तथा चार अंतःकरण की प्रवृत्ति के मार्गों को मिलाकर की व्याख्या व्याख्या हो गई। त्रिगुणात्मक होने के कारण सुख, दुःख और मोहसंज्ञक है, अतः यह अन्न अर्थात् भोग्य है। बीज जब तक उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह आस्वाद के योग्य नहीं होता। उसका भी इसी प्रकार तीन अवस्थाओं में अन्नत्व होता है। वे हैं--बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था वे अन्न इसप्रकार है। क्योंकि उनका परिगमन परिवर्तन होता रहता है। प्रधान अर्थात् कारणरूपा प्रकृति की उपलब्धि कार्य रूप में प्रकट होने पर किस प्रकार होती है। यह यह आगे बतला रहे हैं।

प्रकृति के अभिव्यक्त कार्यों में आस्वाद का ग्रहण करने में बुद्धि इत्यादि करण प्रवृत्त होते हैं अर्थात् बुद्धि इत्यादि ही प्रधान के कार्यों को ग्रहण करती है। इन में से बुद्धि अध्यवसाय अर्थात्

निश्चयात्मिका है। मन अंतःकरण है, जो संकल्परूप व्यापार से संपन्न है, मन की ही अहंकारात्मिका वृत्ति अभिमान है। ये संकल्प, अध्यवसाय और अभिमान शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध संज्ञक इन्द्रियों के विषयों को पांच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ--इन सभी इन्द्रियों के विषयों को तथा प्राणों के प्राणन और अपानादि विषयों को ये ग्रहण कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार, अभिव्यक्त विषय भोग्यता के सदृश ही अनभिव्यक्त विषयों की भोग्यता का भी अनुमान कर ले न चाहिए। इन व्यक्त और अव्यक्त विषयों का भोक्ता निर्गुण अर्थात् निर्विकार आत्मा है। भोक्ता होने के कारण उसका चैतन्य स्वरूप प्रसिद्ध ही है क्योंकि अचेतन तो भोग कर नहीं सकता। जैसे देवों के मध्य अग्नि अन्न का भक्षक माना जाता है। सोम अन्न स्वरूप है, क्योंकि जगत अग्नीषोमात्मक है। इसलिए साधक को यह समझना चाहिए कि अग्नि के द्वारा ही अन्न को ग्रहण किया जाता है, मेरे द्वारा नहीं--इससे वह अन्नदोष से लिप्त नहीं होता। 'सोमसंज्ञक यह भूतात्मा अग्निसंज्ञक अव्यक्तमुख है'--इस वचन के अनुसार पुरुष ही अव्यक्त अर्थात् प्रकृति के माध्यम से तीन गुणों के समूह का भोक्ता है। जो इस प्रकार से समझता है, वह संन्यासी, योगी और आत्मयज्ञ का अनुष्ठाता है और जिस प्रकार सूने अर्थात् पुरुषरहित घर में प्रवृष्ट हुई कामातुर स्त्रियों का स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार संन्यासी, योगी और आत्मयज्ञ का अनुष्ठाता साधक इन्द्रियों के विषयों के विद्यमान रहने पर भी उनके स्पर्श से बचा रहता है।

उपयुक्त अनुच्छेद में सांख्यशास्त्र की प्रक्रिया के अनुरूप जागतिक तत्त्वों के साथ आत्मा के सम्बन्ध की विवेचना की गई है। अन्तर केवल इतना है कि सांख्य में वस्तुतः भोक्ता भी प्रकृति ही है, पुरुष नहीं है। अतः वास्तव में वहाँ बन्धन और मोक्ष प्रकृति का ही होता है। यहाँ भोक्ता तो

पुरुष को माना गया है; क्योंकि अचेतन होने के कारण प्रकृति स्वयं अपने विषयों का भोग कर नहीं सकती। लेकिन भोक्ता होने पर भी चूँकि वह प्रकृति के माध्यम से भोग में प्रवृत्त होता है, इस लिए भोग के दोषों से वह बचा रहता है। भगवद्गीता में भी यही कहा गया है कि प्रकृति में स्थिर होकर ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का सङ्ग ही जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है—पुरुष।

5.3 अन्न का स्वरूप

अन्न की शब्द की व्युत्पत्ति – अद्यते – जो प्राणियों द्वारा खाया जाता है और जो स्वयं भी प्राणियों को अति- खाता है।, इसलिए सम्पूर्ण प्राणियों का भोज्य और उनका भोक्ता होने कारण भी वह 'अन्न' कहा जाता है। यह जो ओदनादि रूप अन्न है, वह आत्मा का उत्कृष्ट आकार है, क्यों की प्राण अन्नमय है अन्न से ही जीवन है। इसी को अन्वय व्यतिरेक पद्धति के माध्यम से बतलाया जा रहा है। और यदि यह अन्न-ग्रहण न करता होता, तो यह मनन, श्रवण, स्पर्श, दर्शन, सम्भाषण, गन्ध-ग्रहण तथा रसास्वादन करने में समर्थ न होता। केवल इतना ही नहीं, यह जीवित रहने में समर्थ नहीं होता इसे प्राणों का परित्याग करना पड़ता चूँकि यह अन्न भक्षण करता है, इसलिए यह प्राण बल से समृद्ध होकर मनन करता है, श्रवण करता है, स्पर्श करता है, सम्भाषण करता है, रसास्वादन करता है और गंध का आघ्राण कर लेता है। इसी प्रकार से कहा गया है पृथ्वी पर रहने वाले समस्त सृष्टियाँ अन्न से ही उत्पन्न होती है, अन्न के द्वारा ही ये प्राण धारण करती है और यहाँ से गमन भी अन्न के कारण ही करती है।

और अन्यत्र भी कहा गया है ये सभी प्राणी दिन प्रतिदिन अन्न ग्रहण करते हुए ही इधर उधर परिभ्रमण करते रहते हैं। सूर्य अपनी किरणों से अन्न ग्रहण करता है। इसी कारण वह तपता है। ये प्राण अन्न से अभिषिक्त होकर परिपक्व होते हैं। अर्थात् अपना-अपना कार्य करते हैं। अन्न के बल से ही अग्नि प्रज्वलित होती है ब्रह्मा ने अन्न की कामना से इस जगत रचना की है। इस प्रकार की महिमा के कारण अन्न की उपासना आत्मा के रूप में करनी चाहिए। इसी प्रकार से कहा गया है-
अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते।

अद्यतेऽस्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते।²¹

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही बढ़ते हैं, अन्न प्राणियों के द्वारा खाया जाता है तथा अन्न स्वयं प्राणियों का भक्षण करता है। इसी कारण उसे अन्न कहा जाता है।

और अन्यत्र भी कहा गया है--यह जो अन्न है, वह भगवान् विष्णु का विश्वम्भर नामक शरीर है। प्राण अन्न का ही रस है। मन प्राण का रस है। विज्ञान मन का रस है। विज्ञान का रस आनन्द है। जो इस रहस्य को जनता है, वह अन्नवान, प्राणवान, मनस्वान, विज्ञानवान और आनन्दमय हो जाता है। जितने प्राणी यहाँ अन्न खाते हैं, उतना ही अन्तःस्थ पुरुष अन्नग्रहण करता है। अर्थात् प्राणियों के रूप में स्वयं अन्तःकरण में स्थित परमात्मा ही अन्नसेवन करता है। इसी क्रम में यह भी कहा गया है—

अन्नमेव विजरन्नमन्नं संवननं स्मृतम्।

अन्नं पशूनां प्राणोऽन्नं ज्येष्ठमन्नं भिषक्स्मृतम्।²²

²¹ मैत्रा.आ. ६.१२

²² मैत्रा.आ. ६.१३

अन्न वृद्धावस्था का निराकरण करता है अतएव वह शक्तिशाली है। वह सबके द्वारा सेवनीय है। अन्न सभी प्राणियों का प्राण तत्त्व है, अन्न पहले उत्पन्न होने के कारण ज्येष्ठ अर्थात् सर्वोपरी है। अन्न को तो सबसे बड़ा वैद्य अथवा सबसे बड़ी औषधि कहा गया है।
छान्दोग्योपनिषद् में कहा है-

अन्नं वाव बलाद् भूयस्ताद यद्यपि दशरात्रीर्नाश्रीयाद् यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोता।²³

अर्थात् अन्न से ही बल उत्कृष्ट है, क्योंकि यह बल का कारण है। अन्न बल का कारण किस प्रकार है? यह बतलाते हैं- क्योंकि अन्न बल का कारण है इसलिए यदि कोई पुरुष देर रात तक भोजन न करे तो वह अन्न के उपयोग से होने वाले बल के क्षीण हो जाने के कारण मर जाता है; यदि न मरे -जीवित रह जाए, क्योंकि महीने भर न खानेवाले भी जीवित देखे जाते हैं, तो ऐसी अवस्था में जीवित रहने पर वह गुरु का भी दर्शन न करनेवाला हो जाता है तथा उनसे श्रवण करनेवाला भी नहीं रहता इत्यादि सब बात पहले से विपरीत हो जाती है। फिर भी बहुत दिन भोजन न करने पर दर्शनादि क्रियाओं में असमर्थ रहने अपर अन्न का आयी आगमन नाम आय अर्थात् अन्नकी प्राप्ति है, वह जिसे होती है उसे अन्न का आयी कहते हैं। अन्न का उपयोग करने पर ही दर्शनादि की शक्ति देखी जाती है- उसकी अप्राप्ति होने पर नहीं। अतः तुम अन्न की उपासना करो।

ऐतरेयोपनिषत् में अन्न की उत्पत्ति के विषय में कहा है-

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति।²⁴

अर्थात् उस परमात्मा ने ईक्षण किया कि मैंने इन लोक और लोकपालों की रचना कर दी और इन्हें क्षुधा- पिपासा से संयुक्त भी कर दिया। अतः अन्न के बिना इनकी स्थिति नहीं हो सकती; इसलिए इन लोकपालों के लिए मैं अन्न रचूँ। अन्न रचने कि इच्छावाले उस ईश्वर ने उन

²³छा.उप.७.९.१

²⁴ ऐत.उप.१.३.१

जलों को ही उद्देश्य करके तप किया। उन उपदन भुत भी तप्त जलों से ही धारण करने में समर्थ चराचरभूत घनरूप मूर्ति उत्पन्न हुई वह मूर्तिरूप अन्न ही है। अपान द्वारा अन्न ग्रहण – उस परमात्मा ने उस अन्न को प्राण से, नेत्र से, श्रोत्र से, त्वचा से, मन से, शिश्न से एवं भिन्न –भिन्न इन्द्रियों के व्यापार ग्रहण करने में असमर्थ होकर अन्त में उसे मुख के छिद्र द्वारा अपानवायु से ग्रहण करने की इच्छा की। तब उसे ग्रहण कर लिया; अर्थात् इसप्रकार इस अन्न को भक्षण कर लिया। उसी कारण से वह यह अपानवायु अन्न का ग्रहण करनेवाला है। जो वायु अन्नायु-अन्नरूप बन्धनवाला अर्थात् अन्नरूप जीवनवाला प्रसिद्ध है वह यह अपान वायु ही है।

आत्मकल्याण के लिए अन्न-शुद्धि का होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि इसी पर ग्यारहवीं: इन्द्र मन की शुद्धि भी निर्भर करती है। अध्यात्म विद्या में पारंगत ऋषियों ने खाद्यपदार्थों में विद्यमान सात्विक, राजसिक और तामसिक गुणों का गम्भीरता से अध्ययन किया था। औषध जिस प्रकार शरीर को शान्ति प्रदान करती है, उसी प्रकार अन्नरूपी औषधी से सांसारिक प्राणियों का क्षुधाजन्य संताप दूर होता है। जो साधक अन्न की ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं, उन्हें कभी भी अन्न का अभाव नहीं होता है।

छान्दोग्योपनिषद् में अन्न के विषय में कहा है-

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।²⁵

अर्थात् खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है अर्थात् जठराग्नि द्वारा पचाये जाने पर वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है। तीन भागों में विभक्त होते हुए उस अन्न का अन्न का जो स्थविष्ठ स्थूलतम धातु- सबसे स्थूल वस्तु यानी विभक्त हुए अन्न का जो स्थूल अंश होता है, वह मल हो जाता है। तथा जो अन्न का मध्यम अंश होता है वह रसादि क्रम से परिणत होकर मांस हो जाता है और जो अणिष्ठ अणुतम धातु होता है वह ऊपर की ओर हृदय में पहुँचकर हिता नाम

²⁵ छा.उप. ६.५.१

की सूक्ष्म नाडी में प्रवेश कर वाक् आदि इन्द्रियसमूह की स्थिति उत्पन्न करता हुआ मन हो जाता है। वह मनरूप से विपरिणाम होकर विकार को प्राप्त होता हुआ मन का उपचय करता है।

तैत्तिरीयोपनिषत् में अन्न की निन्दा न करना रूप व्रत वर्णन किया है।—

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्।²⁶

अन्न की स्तुति के लिए और अन्न की स्तुति पात्रता ब्रह्मोपलब्धि का साधन होने के कारण है। प्राण ही अन्न है, क्योंकि प्राण शरीर के भीतर रहनेवाला है। जो जिसके भीतर स्थित रहता है वह उसका अन्न हुआ करता है। अन्न शरीर में स्थित है, इसलिए प्राण शरीर में स्थित है, इसलिए प्राण अन्न है और शरीर अन्नाद है; कैसे?— प्राण में शरीर स्थित है, क्योंकि शरीर की स्थिति प्राण के ही कारण है। अतः ये दोनों शरीर और प्राण दोनों ही अन्न और अन्नाद हैं। वह जो इस प्रकार अन्नको अन्न में स्थित जानता है, अन्न और अन्नाद रूप से ही स्थित होता है तथा अन्नवान और अन्नाद होता है।

अन्न त्याग न करना रूप व्रत — अन्न त्याग न करे। यह व्रत है। जल ही अन्न है। ज्योति आनन्द है। जल में ज्योति प्रतिष्ठित है , और ज्योति में जल स्थित है, इसप्रकार ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित है। जो इसप्रकार अन्न को अन्न में स्थित जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और आनन्द होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है तथा कीर्ति के कारण भी महान् होता है।

5.4 काल

इस सब जगत की उत्पत्ति अन्न से हुई है अर्थात् अन्न सब का कारण है। किन्तु अन्न का कारण काल है अर्थात् काल से अन्न की उत्पत्ति हुई है। काल की उत्पत्ति सूर्य से हुई है। उसी का यह रूप है, जो निमेष प्रभृति काल के परिमाण से उत्पन्न बारह मासों वाला संवत्सर है। इस

²⁶ तै.उप. ३.७.१

संवत्सर का आधा भाग अर्थात् उत्तरायण अग्निदेव से सम्बद्ध है क्योंकि यह उष्णताप्रधान है और शेष आधा भाग अर्थात् दक्षिणायन वरुणदेव से सम्बद्ध है क्योंकि वह वर्षा इत्यादि के रूप में जल प्रधान है। मघा नक्षत्र से प्रारम्भ कर के आधे श्रविष्ठा नक्षत्र के भोगकाल तक का समय अग्निदेव का माना जाता है। क्योंकि उस समय शीत से पीड़ित प्राणी अग्नि की उपासना करते हैं। तथा सर्पों से सम्बद्ध आश्लेषा नक्षत्र से प्रारम्भ करके श्रविष्ठा नक्षत्र के उत्तरार्ध तक, जब तक सूर्य उर्ध्व मार्ग से सञ्चरण करता है, सोमदेवता से सम्बद्ध है; क्योंकि उस समय गर्मी से पीडीत प्राणी चंद्रदेव की उपासना करते हैं। इनमें से प्रत्येक का अपने नवांश कर्म से सञ्चार होता रहता है। तात्पर्य यह है की सत्ताईस नक्षत्रों का अग्नि, वरुण और चन्द्रमा के क्रम से विभाजन करने पर प्रत्येक के अधिकार में नौ-नौ नक्षत्र आते हैं। नौ नक्षत्रों का समूह ही 'नवांश' नाम से निर्दिष्ट है।

(२) ऊपर काल का ही विवरण है, वह सूर्य के अनुसार है। चन्द्रमा का कर्म इस से भिन्न है। वह एक राशि में केवल सवा दो दिन ही रहता है।

इसकी दूसरी व्याख्या यह हो सकती है, और जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है 'नवांश' का अभिप्राय नक्षत्रों के नौ पाद मान लिया जाय। एक राशि में सामान्यतः सवा दो नक्षत्र होते हैं-- इस प्रकार नक्षत्रों के नौपादों पर सूर्य एक मास रहता है। सूक्ष्म होने के कारण काल का यही मान उत्कृष्ट है। इसी से काल की गणना होती है। प्रमाण के बिना प्रमेय की उपलब्धि नहीं होती। अपना भलीभाँति ज्ञान करने के लिए प्रमेय अर्थात् ज्ञेय भी पृथक् रूप से प्रमाण श्रेणी में उसी प्रकार से आ जाता है। जैसे दीप का प्रकाश दूसरी वस्तुओं का स्वरूप दिखाने के साथ अपना स्वरूप भी दिखा देता है। काल की जितनी कलाएँ हैं, उसमें सब में यह काल सञ्चरण करता है। इसलिए जो उपासक काल की ब्रह्मरूप में उपासना करता है, काल उससे दूर हट जाता है। इसी प्रकार से कहा गया है --

प्राणी काल से निकलते हैं और काल से ही सम्पुष्ट होते हैं। अन्त में काल में ही अस्त हो जाते हैं। इस प्रकार काल मूर्त तथा अमूर्त स्वरूपों वाला है। तात्पर्य यह है कि काल के दो रूप हैं। एक है मूर्तिमान और अमूर्त, आदित्यस्वरूप में वह मूर्तिमान है और संवत्सर रूप में वह अमूर्तिमान है। ब्रह्म के दो रूप हैं- काल और अकाल। वह जो आदित्य से पहले का रूप है, वह अकाल है तथा कलारहित है और जो आदित्य से प्रवर्तित है, वह सकाल अर्थात् कलासहित है। संवत्सर इस कलासहित काल का स्वरूप है। संवत्सर से ही ये प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। संवत्सर के द्वारा उत्पन्न होने के बाद ही यहाँ वे संवर्धन पाती हैं और अंत में संवत्सर में ही अस्त हो जाती हैं। इसलिए संवत्सर ही प्रजापति, काल, अन्न, ब्रह्मा का नीड अर्थात् आलम्बन और आत्मा है। इसी प्रकार से कहा है - सभी प्राणियों को काल अकालात्मक परमात्मा के अधिष्ठान में पचाता अर्थात् परिवर्तित करता रहता है। अरे ! जिसमें काल भी पचता है, उसे जो जानता है, वही वेद का यथार्थ ज्ञाता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में महर्षि याग्यवल्क्य ने गार्गी के प्रश्न के उत्तर में भी यही कहा है कि अविनाशी परमात्मा के ही शासन में निमेष से प्रारम्भ कर संवत्सरपर्यन्त काल संस्थित है।²⁷

बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने गार्गी के प्रश्न के उत्तर में भी यही कहा है कि हे गार्गी ! द्युलोक और पृथ्वी सावयव होने के कारण फूटने के स्वभाव वाले, भारी होने के कारण गिरने के स्वभाव वाले, संयुक्त होने के कारण वियुक्त होने के स्वाभाव वाले और चेतनावान अभिमानी देवता से अधिष्ठित होने के कारण स्वतंत्र होने पर भी इस अक्षर के प्रशासन में विदूत होकर स्थित है। यह अक्षर ही समस्त व्यवसायों का सेतु समस्त मर्यादों का

²⁷ बृ.उप.५.७

विधारक है अतः द्युलोक और पृथ्वी इस के प्रशासन का अतिक्रमण नहीं कर सकते; इसके इस अक्षर का अस्तित्व सिद्ध होता है; द्युलोक और पृथ्वी इसके द्वारा नियमित होकर विद्यमान है। यह इस की सत्ता का अव्यभिचारी लिङ्ग है; क्योंकि किसी चेतनावान् असंसारी शासक के बिना ऐसा होना सम्भव नहीं; जैसा की "जिसके द्वारा उम्र और पृथ्वी दृढ़ की गयी है" इत्यादी इस प्रकार सिद्ध होता है।

इस अक्षर के प्रशासन में ही निमेष, मुहूर्त इत्यादि काल के अवयव उत्पन्न होने वाले समस्त अतीत और अनागत पदार्थों की गणना करने वाले है: जिस प्रकार लोक में स्वामी के द्वारा नियुक्त किया हुआ गणक (मुनीम) प्रमादशून्य रहकर समाप्त आय और व्यय की गणना करता है, उसी प्रकार इन कालावयवों का नियन्ता भी इनका प्रभुरूप है।

सिन्धुराज अर्थात् नदियों के स्वामी समुद्र की भाँती यह मूर्तिमान काल प्रजाओं के लिए दुस्तर है। इसका नाम सविता, जो उस काल में स्थित है। इसे सविता इसलिए कहा जाता है की इसी से चन्द्रमा, नक्षत्र, गृह, संवस्तर प्रभुति उत्पन्न होते है और इनसे यह सब जगत् उत्पन्न है। यहाँ लोक में जो कुछ शुभ और अशुभ दिखाई देता है, वहीं उन्हीं से होता है अर्थात् उसके निमित्त ये नक्षत्र और गृह इत्यादि है। चूँकि जगत् की स्थिति आदित्य के कारण है, इसलिए ब्रह्मा आदित्यस्वरूप है। इस रहस्य को जानने के अनन्तर काल संज्ञक आदित्य की उपासना करनी चाहिए। कुछ मनीषियों का मत है की आदित्य स्वयं ब्रह्मा है। इस सन्दर्भ में इस प्रकार कहा है

यह जो सूर्य-मण्डल में प्रकाशित हो रहा है, वह होता होम करनेवाला अर्थात् यजमान, भोक्ता, हविष, मन्त्र, यज्ञ, विष्णु, प्रजापति, प्रभु और सब कुछ।

सृष्टि से पहले जब तक काल, सूर्य, अग्नि, इत्यादि का आविर्भाव नहीं हुआ था, उस समय केवल यह ब्रह्मा ही था। तब न सजातीय और विजातीय वस्तुओं के मध्य कोई अन्तर था और न कोई विभाजन ही हुआ था। वह पूर्व, पश्चिम उत्तर तथा दक्षिण। इन सभी दिशाओं के अनुसार तथा ऊपर और नीचे सर्वत्र अनन्त था, अर्थात् उसका न कोई ओर था न छोर। उस समय प्राची इत्यादि दिशाओं की रचना नहीं हुई थी और ऊपर- नीचे तथा इधर किसी भी ओर से परमात्मा का चूँकि अनुमान नहीं हो पाता, इस कारण यह अपरिमित, अजन्मा, अनवलम्बित था, तर्क और विचार से परे प्रतीत होता है। यह आकाश स्वरूप अर्थात् आकाश के समान असङ्ग स्वरूप वाला है। जब सम्पूर्ण जगत् प्रलय में निमग्न हो जाता है, उस समय यह अकेला ही जागता रहता है। इस प्रकार आकाशतत्त्व से लेकर सम्पूर्ण जगत् को यह परमात्मा चेतामात्र रूप से प्रबोधित करता रहता है। इस परमात्मा के द्वारा ही जगत् ध्यानमात्र से उत्पन्न होता है। इसी में अन्त में विलीन हो जाता है। आदित्य में जो तपता रहता है, वह इसी का प्रकाशमय रूप है। और धूमरहित अग्नि में जो विचित्र प्रकार की ज्योति रहती है। वह भी वही है। प्राणियों के उदर में स्थित होकर यह अन्न का परिपाक करता रहता है। इसी प्रकार से कहा है- यह जो अग्नि में है, यह जो हृदय में है और यह जो आदित्य में है, वह यह एक ही है। जो इसे जान लेता है, वह इस अनुभूति तक पहुँच जाता है कि परमात्मा एक है।

5.5 षडङ्गयोग विवेचन

दर्शन और आध्यात्मिकता के अर्थ में योग वैदिक धर्म में प्राप्त होता है। आध्यात्मिक योग विशुद्ध रूप से वैदिक है। जिसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥²⁸

²⁸ ऋ. ५. ८१. १

जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें और जो लोग ईश्वर के उपासक हैं अर्थात् बड़े बड़े बुद्धिमान् उपासनायोग के ग्रहण करने वाले हैं, वे सबको जानने वाला सबसे बड़ा और जो सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उसके बीच में अपने मन को स्थित करते हैं। अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी सदा परमेश्वर में ही स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर सब जगत को धारण और विधान करता है, जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है उस देव अर्थात् सब जगत के प्रकाश सब की रचना करने वाले परमेश्वर की हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें।

इसी प्रकार ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में योग का उल्लेख प्राप्त होता है।

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।

सखाय इद्रमूतये।²⁹

अर्थात् योगाभ्यासी जन जीवन के प्रत्येक संघर्ष में बारम्बार ऐश्वर्यरूपी इन्द्र को अपनी रक्षा के लिए पुकारते हैं।

मैत्रायणी आरण्यक में योग-साधना का जो स्वरूप मिलता है, वह गीतोक्त परम्परा के अनुरूप प्रतीत होता है। गीता में कहा गया है कि वास्तव में योग की परम्परा विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु के क्रम से प्रवर्तित हुई थी, जो बाद में अनेक राजर्षियों को मिली, लेकिन आगे वह छिन्न हो गई।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

स कालेनेह महता नष्टो योगः परन्तप ॥³⁰

²⁹ ऋग्वेद १.३०.७

मैत्रायणीय आरण्यक के तत्व जिज्ञासु बृहद्रथ भी ऐश्वराक ही है। योगाभ्यास के अन्य विधानों में भी अद्भुत साम्य है। इसलिए यह आरण्यक निश्चित ही सूत्रकाल से पहले का है।

मैत्रायणीय आरण्यक में प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि इन छह अङ्गों से युक्त योगानुष्ठान पद्धति का निरूपण किया गया है।

योग

“योगः समाधिः” “युज् समाधौ” धातु से घञ् प्रत्यय करके योग शब्द निष्पन्न होता है। योग शब्द ‘योग’ नाम जोड़ने के कारण पड़ा, क्योंकि साधक प्राण, ओङ्कार और अनेकरूपात्मक समस्त विश्व को एक साथ जोड़ता है तथा ये सभी उनके लिए अपने को जोड़ते हैं। इससे प्राण, मन और इन्द्रियों की एकता होती है तथा समस्त हानिकारक भावों का तिरोधान हो जाता है।

योग के माध्यम से न केवल शरीरशुद्धि ही अपितु अन्तःकरण शुद्धि भी कर सकते हैं। जोकि वही सर्वोत्तम और परमेश्वर प्राप्ति का साधन है। मनुजी ने मनुस्मृति में कहा है –

अङ्घ्रिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥³¹

अर्थात् शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। पहले बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि और राग-द्वेष आदि के त्याग से भीतर की शुद्धि कर लेनी चाहिए। परन्तु शरीर शुद्धि की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि सबको अवश्य करनी चाहिए। जोकि योग का प्रमुख कार्य है। गीता में कहा गया है कि योग बल के द्वारा ही परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।

³⁰ गीता ४.१, २

³¹ मनु.अ.५.१०९

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥³²

अर्थात् योगी पुरुष अन्तकाल में भी योग बल से भृकुटी के मध्यमें प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य रूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त हो जाता है।

चित्त को वश में करने के उपाय के रूप में अङ्गों सहित योग प्रक्रिया का निरूपण मैत्रायणीय आरण्यक में किया गया है।

तथा तत्प्रयोगकल्पः प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं

धारणा तर्कः समाधिः षडङ्ग इत्युच्यते योगः॥³³

चित्त की एकाग्रता हेतु साधना एवं अनुष्ठान-विधि वर्णित है। प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि इन छह अङ्गों से युक्त योग कहलाता है। इस योग का भलोभाँति अभ्यास करने से परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए साधक स्वर्णवर्णवाले, कर्ता, ईश्वर, पुरुष, ब्रह्मा और जगत् की उत्पत्ति के केन्द्र का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह पुण्य और पाप का परित्याग करके परम अविनाशी तत्व में सब कुछ के एक होने अर्थात् अद्वैतभाव की अनुभूति करता है।

जैसे जलते हुए पर्वत पर पशु-पक्षी नहीं ठहरते, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानियों के भीतर दोष भी कभी नहीं ठहरते।

साधारण मनुष्य स्थूल शरीर द्वारा कोई विशेष क्रिया तथा भौतिक जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले आश्चर्यजनक चमत्कार अथवा बाह्य व्यवहार से सम्बन्धित सिद्धि और विभूति आदि को ही योग का गौरव समझते हैं, जबकि योग का वास्तविक स्वरूप अन्तर्मुख होना है।

योग के विषय में श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है-

नात्यश्रतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्चतः।

³² गीता. ८. १०

³³ मैत्रा. आ. ६. १७

न चाति स्वप्रशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ 34

अर्थात् हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिल्कुल खाने वाले का, न बहुत शयन करने वाले स्वभाव का और न सदाजागने वाले का ही सिद्ध होता है।

आगे मैत्रायणीय आरण्यक में वर्णित षड्गों में सर्वप्रथम प्राणायाम के विषय में वर्णन किया जा रहा है। प्राण तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। प्राण का आयाम ही प्राणायाम है हमारे शरीर में जितनी भी चेष्टाएँ होती हैं, उनका प्राण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। प्रतिक्षण जीवन और मृत्यु का जो अटुट सम्बन्ध मनुष्य के साथ है, वह प्राण के संयोग से ही है। हमारे वेद, शास्त्र एवं उपनिषदों में प्राण की विस्तार से व्याख्या की गई है। अथर्ववेद में कहा है- “प्राणापानौ मृत्योर्मा पात स्वाहा” प्राण और अपान ये दोनों मेरी रक्षा करें।

प्राणायाम –

तस्मिन् सति श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः।³⁵

जो वायु बाहर से भीतर जाता है उसको श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उसको प्रश्वास कहते हैं। प्रश्वास को बलपूर्वक नासिका द्वारा बाहर फेककर बाहर ही यथा शक्ति रोकना। प्राणायाम के भेद – बाह्यभ्यन्तरस्तम्भवृतिर्देशकाल संख्याभिःपरिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

प्राणायाम के तीन भेद हैं- बाह्यवृति, आभ्यन्तरवृति और स्तम्भवृति।

प्राणायाम में नासिका से श्वास बाहर फैंक कर उसकी गति रोक दी जाती है अर्थात् सांस न लेना इसको रेचक प्राणायाम कहते हैं।

अभ्यान्तर वृति में बाहर से भीतर सांस खींच कर रोक ली जाती है इसे पूरक प्राणायाम कहते हैं।

³⁴ गीता ६.१६

³⁵ योगदर्शन २.४९

स्तम्भ वृत्ति में न बाहर से भीतर न भीतर से बाहर सांस फैकना किन्तु भीतर को भीतर और बाहर की बाह्र जहां की तहां सांस रोकना इसे कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। यह देश, काल और संख्या क्रम से सूक्ष्म बहुत लम्बा होता है।

चौथा प्राणायाम और भी है – बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।³⁶

बाह्य और भीतर के विषय को लांघने वाला चौथा प्राणायाम है। रेचक प्राणायाम का सम्बन्ध बाहर से है। क्योंकि इसमें प्राणों को बाहर ठहराते हैं। पूरक में भीतर सांस ठहरानी पड़ती है, इसलिए इसका आभ्यन्तर सम्बन्ध है इन दोनों के अभ्यास से कुम्भक प्राणायाम क्रिया होती है इसे सहित कुम्भक भी कहते हैं। इस सहित कुम्भक में रेचक और पूरक की अपेक्षा रहती है जब इसकी शक्ति बढ़ जाती है तो बिना रेचक और पूरक के प्राण ठहराये जा सकते हैं इन दोनों भांति के प्राणायाम को लांघने वाला चौथा कुम्भक कहा जाता है।

चौथे प्राणायाम फल-

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥³⁷

अर्थात् विवेक ज्ञान प्रकाश पर जो अविद्या धन पटल का आवरण आकर योगी को क्लेशित करता है वह प्राणायाम अभ्यास से निरन्तर अभ्यास से वह परदा हट जाता है और विशुद्ध विवेक ज्ञान का सूर्य दैदीप्यमान होने लगता है।

धारणासु च योग्यता मनसः॥ अर्थात् धारणाओं में और मन की योग्यता उद्भूत होती है। जितनी धारणायें हैं इस प्राणायाम के अभ्यास से ही मन उन समस्त धारणाओं के योग्य बन जाता है। जहाँ चाहे वहाँ ध्यान स्थापित कर सकता है इतस्ततः नहीं जाता।

प्रत्याहार –

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥³⁸

³⁶ योगदर्शन. २. ५१

³⁷ वही. २. ५२

अर्थात् निज विषय से असम्बन्धित होने से चित्त के स्वरूप की छाया सा इन्द्रियों का प्रत्याहार है। चित्त के आधीन बाह्येन्द्रिय बाह्य विषयों को ग्रहण करती है यह प्राणायाम अभ्यास से चित्त जब बाहर की ओर से रूक जाता है तो चित्त की भांति इन्द्रियां भी अवरुद्ध हो जाती है अतः इस चित्त की अन्तर्मुख वृत्ति होने से इन्द्रियां बाह्य विषय विमुख होकर चित्त के स्वरूप अनुरूप सा बन जाता है, यही प्रत्याहार है।

प्रत्याहार का फल – ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्॥³⁹

उस प्रत्याहार से परमोत्तम इन्द्रियों की वशवर्तिता। जिज्ञासुओं के अनुभव भेद से कोई शब्दादि विषयों में न फँसना इन्द्रियजय है। किसी के अनुभव में वेदाविरुद्ध विषयों का सेवन और तद्विरुद्ध विषयों अप्रवृत्ति इन्द्रियजय है। चित्त के ही निरोध से सर्व इन्द्रिय वश्यता सम्भव है। यही प्रत्याहार का फल है।

धारणा – देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥⁴⁰

देश में बांधना चित्त की धारणा है। धारणा से चित्त प्राणायाम के योग्य बनता है। योगी बाह्याभ्यन्तर किसी स्थान में चित्त की अचलता से बांधता है। अभ्यन्तर में नाभिचक्र, हृत्पुण्डरीक, मूर्द्धा स्थिति ज्योति में, नाक के अग्र भाग में अथवा जिह्वा के आगे के भाग में टिकाना धारणा है।

ध्यान- तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्॥⁴¹

वहाँ कि जहाँ चित्त को लगाया है उस प्रदेश में वृत्ति की एकाग्रता ध्यान है। जिसमें चित्त को धारण किया गया है। उसी प्रदेश में उस की वृत्ति का एकाग्र होना अर्थात् उसका उत्तरोत्तर उदय होता जाना और अन्य प्रवृत्ति का आना ध्यान है।

³⁸ योगदर्शन. २.५४

³⁹ वहीं. २.५५

⁴⁰ वहीं. ३.१

⁴¹ योगदर्शन. ३.२

तर्क –

तर्क के विषय में मैत्रायणीय आरण्यक में कहा गया है-

मनो ध्येये वस्तुनि तदाकारतया सम्यक्सम्पन्नं न वेति परीक्षणं तर्कः।

ध्यानधारणासामर्थ्यादुपस्थितक्षुद्रसिद्धिनां योगान्तरायत्वोहनं वा तर्कः।⁴²

ध्येय वस्तु में लगा मन उसी आकार को ग्रहण करके भी सम्यक्त्व प्राप्त कर पाया या नहीं इसका आकलन तर्क है। तथा ध्यान धारणा के प्रभाव से उपस्थित क्षुद्र सिद्धियों का अथवा योग साधना के सम्मुख विद्यमान विघ्नबाधों का निराकरण तर्क है।

आचार्य गौतम ने तर्क का लक्षण कहा है -

अविज्ञाततत्त्वैर्ऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ⁴³

जिस अर्थ का तत्व निर्णीत न हो उसके तत्त्वज्ञान के लिए युक्ति पूर्वक किए जानेवाले "ऊह" ज्ञान का नाम है "तर्क" है।

समाधि – तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।⁴⁴

वही ध्यान जिसमें अर्थमात्र भासित होता है। स्वरूप से शून्य सा समाधि है। जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय, ध्याता ध्यान, ध्येय जब एक से भासित हो तो उसे ध्यान कहते हैं वहाँ केवल ध्येय मात्र का लगाव रहता है। और उसका रूप शून्य सा प्रतीत होता है यही समाधि है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से योग किसका सिद्ध होता है इस विषय में कहते हैं-
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥⁴⁵

⁴² मैत्रा.आ.६.१७

⁴³ न्यायदर्शन १.१.४२

⁴⁴ वही.३.३

⁴⁵ गीता ६.१७

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। और कहते हैं - हे अर्जुन तू योगी बन क्योंकि -

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥⁴⁶

अर्थात् योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। इससे हे अर्जुन! तू योगी हो। इसप्रकार आगे भी कहते हैं सम्पूर्ण योनियों में भी जो श्रद्धावान योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

योग नाम की सार्थकता

सोये हुए व्यक्ति के सदृश अपनी इन्द्रियों को भीतर ही भीतर समेट लेनेवाला साधक, परमशुद्ध, बुद्धि से, स्वप्न के सदृश, इन्द्रियों की पराधीनता से मुक्त होकर, इन्द्रियों की गहराई में, प्रणवसंज्ञक अन्तर्यामी प्रणेता को देखता है, जो प्रकाशरूप, निद्रा एवं वृद्धावस्थारहित तथा मृत्यु और शोक से परे है। इस साक्षात्कार के बाद वह साधक स्वयं भी प्रणवसंज्ञक प्रणेता, प्रकाशरूप, निद्रा एवं वृद्धावस्था से रहित तथा मृत्यु एवं शोक से परे हो जाता है। इसी प्रकार से कहा है--

योग को योग इसलिए कहा गया है की उसमें इस पूर्वोक्त प्रकार से साधक प्राण, ओङ्कार और अनेक रूपात्मक समस्त विश्व को एक साथ जोड़ता है अथवा ये सभी उस के लिए अपने को

⁴⁶ वहीं ६.४६

जोड़ते हैं। योग को योग इसलिए कहा जाता है; क्योंकि इसमें प्राण, मन और इन्द्रियों की एकता हो जाती है और अन्य समस्त हानिकारक मनो-भावों का परित्याग हो जाता है।

मछुवारे की उपमा

जैसे मछेरा जल में रहनेवाले मछली इत्यादि जीवों को जाल के द्वारा पकड़कर पेट की आग में उनसे होम करता है अर्थात् उन्हें खा लेता है, इसी प्रकार साधक इन प्राणों को ओङ्कार साधना के माध्यम से उपर उठाकर आत्मा अथवा ब्रह्मरूप निर्दोष अग्नि में होम करता है। इसलिए वह साधक तपी हुई पृथ्वी-यज्ञ-वेदी की तरह हो जाता है। और जैसे तपी हुई भूमि-वेदी पर डाला गया घी -तृणों और लकड़ियों के साथ आग के संस्पर्श से जलने लगता है, इसी प्रकार यह प्राण नामक तत्त्व अर्थात् आत्मा प्राण के संस्पर्श से प्रदीप्त हो उठता है और यह जो प्रज्वलित होता है, वह ब्रह्म का रूप है। यही विष्णु का सर्वोच्च स्थान है। यही रुद्र का रौद्रस्वरूप है। यही अपने को असंख्य रूपों में विभाजित करके इन सभी लोकों को व्याप्त कर लेता है। इसी प्रकार से कहा गया है--

जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ छिटकती हैं तथा सूर्य से किरणें निकलती हैं उसी प्रकार प्राण इत्यादि भी उसी ब्रह्म से बार-बार क्रमशः ऊपर आते हैं।

आत्मनिष्ठा का उपदेश

और अन्यत्र भी कहा गया है। यह जो शरीर की ऊष्मा गर्मी है, वह उसी अमृत आत्म अशरीरी परब्रह्म का ही तेज है। यह शरीर उस तेज का घृत है। यह तेज प्रकट होकर हृदयाकाश में निहित रहता है। एकाग्रता के अभ्यास से साधक हृदयाकाश को परिचालित करते हैं, जिससे वह ज्योतिर्मय-सा हो उठता है और साधक शीघ्र ही उस भाव अर्थात् गाड़ा गया लोहे का टुकड़ा शीघ्र ही मिट्टी में मिल जाता है और फिर लुहार आग में उसे नहीं तपाते अर्थात् वह उनके काम

का नहीं रह जाता, इसी प्रकार इसके सहारे साधक के चित्त में स्थित वासनाएँ पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार से कहा गया है--

हृदयाकाश में स्थित कोष आनन्दमय परमधाम है, वह हमारा अपना आश्रय है, वही हमारी योग-साधना का लक्ष्य है। वह अग्नि और सूर्य के तेज के सदृश प्रकाशमय है।

ब्रह्मतेज के उपलम्भ में योग विशेष का उपदेश

और अन्यत्र भी कहा गया है-महाभूतों से निर्मित देह इन्द्रियों और उनके विषयों का अतिक्रमण करके अर्थात् उन्हें पार करके साधक संन्यासरूपी प्रत्यञ्चा वाले और धैर्यरूपी दण्ड वाले धनुष को लेकर, उस पर निरभिमानितारूपी बाण को चढ़ाकर, ब्रह्म की प्राप्ति में बाधक बने हुए ब्रह्मद्वार के प्रथम द्वारपाल को मारकर आगे बढ़े। ऐसा न करने पर वह बाधक द्वारपाल सम्मोहन के मुकुट को शिर पर धारण किये, तृष्णा एवं ईर्ष्या के कुण्डल-कानों में पहने हुए, आलस्य, निद्रा एवं पाप -इन तीनों से युक्त होकर, अभिमान भरी आँखों से देखते हुए, क्रोधरूपी प्रत्यञ्चा तथा लोभरूपी दण्ड से युक्त धनुष को लेकर और उस पर अपनी कामनाओं के बाण चढ़ाकर प्राणियों का संहार करने लगता है। अतः उसे मार करके साधक ओङ्काररूपी नौका की सहायता से भीतर हृदयाकाश रूपी समुद्र को पार करके, अन्तराकाशगत ब्रह्म के प्रकट होने पर, धीरे से ब्रह्मधाम में उसी प्रकार प्रवेश करे। जैसे - स्वर्ण, रजतादि धातुओं का इच्छुक व्यक्ति खोदी गई खान में प्रवेश करता है। इसके अनन्तर, अपने गुरु के द्वारा बतलाये गये शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार चार-जालों [-अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोशों] से युक्त ब्रह्मकोश पर तब तक आघात करे।

जब तक वह अन्तिम अर्थात् आनन्दमय कोश तक नहीं पहुँच जाता, जिसमें ब्रह्म के साथ एकता की अनुभूति होती है। इस स्तर पर पहुँचकर यहाँ से वह साधक शुद्ध, पवित्र, शून्य निर्विचार ,

शान्त, अप्राण, निरात्मा, अनन्त, अक्षय, स्थिर, शाश्वत, अजन्मा और स्वतन्त्र होकर अपनी महिमा में स्थित हो जाता है। इसके बाद वह आत्मसाक्षात्कार करके और अपनी महिमा में स्थित रहकर संसार-चक्र का अवलोकन इस प्रकार करता है, जैसे रथ से उतरने के बाद व्यक्ति चलते हुए रथ के घूमते हुए पहिए निरासक्त भाव से देखता है। उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है। इसे इस प्रकार से कहा गया है।

यदि कोई साधक बाह्य जगत से पूर्णतया मुक्त होकर छह मास तक इस प्रकार योग अभ्यास करता है, तो उसका अनन्त परम् निगूढ और परिपूर्ण योग अर्थात् ब्रह्मा के साथ ऐक्य संपन्न हो जाता है।

लेकिन उस व्यक्ति का, जो रजोगुण और तमोगुण से आच्छन्न है, वासना से जिसका अंतःकरण भलीभांति जल रहा है तथा पुत्र, पत्नी और कुटुम्ब में आसक्त है, उसकी योग-साधना कदाचित सफल नहीं हो पाती।

मोक्ष का अधिकारी –

“ प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।

गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे”।⁴⁷

विचारों में लीन हृदयवाले शाकायन्य बृहद्रथ से इस प्रकार कह करके तथा ब्रह्म अथवा अपने गुरु को नमस्कार करके बोले- हे राजन ! इसी ब्रह्मविद्या की सहायता से प्रजापति के पुत्र वालखिल्य ऋषि ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर चल पड़े। योगाभ्यास से साधक सन्तोष, द्वन्दों, सुख - दुःख, सर्दी - गर्मी इत्यादि को सहन करने की क्षमता और शान्त स्वभाव को प्राप्त करता है। यह ज्ञान अन्त्यन्त गोपनीय है। इसका वर्णन उसके लिए नहीं करना चाहिए, जो न तो पुत्र हो, न

⁴⁷ वेदान्तसार. २६

शिष्य हो और न ही शान्त स्वभाव वाला हो । यह ज्ञान केवल अनन्यभक्त तथा सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति को ही दिया जाना चाहिए ।

पारमार्थिक ज्ञान के सम्प्रेषण के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञानियों के मध्य प्रारम्भ से ही गहरी सतर्कता की भावना दिखाई देती है। श्वेताश्वतर -उपनिषत् में भी इसी प्रकार का कथन है-

वेदान्तं परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम्।

नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राशिष्याय वा पुनः।⁴⁸

पवित्र स्थान पर, शुद्ध तथा सात्विकभाव से सम्पन्न होकर, अर्थात् आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करता हुआ , सत्य बोलता और सत्य का ही चिन्तन अथवा ध्यान करता हुआ सत्ययज्ञ का अनुष्ठान साधक करे। इससे सत्यब्रह्म की अभिलाषा से युक्त होने पर वह निवृत्त होकर कुछ दूसरा ही हो जाता है , इसके फलस्वरूप उसके बन्धन कट जाते हैं , लौकिक आशाओं से वह मुक्त हो जाता है , दूसरे व्यक्तियों के मध्य में उसे अपने ही जैसी अनुभूति होती है , भय से वह रहित हो जाता है , और इस प्रकार निष्काम भाव से जीवन जीते हुए वह अक्षय और अपरिमित सुख को प्राप्त करके अपने आप में स्थित हो जाता है । परमात्मा ही निष्कामभाव का आगार है , उसी से निष्काम भाव को साधक प्राप्त करता है ,लेकिन यह बहुत कठिन है , क्योंकि करके जो सभा कामनाओं से युक्त पुरुष है , वह अध्यवसाय इच्छा,सङ्कल्प और अभिमान इन लक्षणों से युक्त होने के कारण बन्धनग्रस्त है । लेकिन इनसे भिन्न साधक मुक्त है । इस सन्दर्भ में कुछ का कथन है-यह गुण ही है है, जो प्रकृति की भिन्नतावश अध्यवसायात्मक बन्धन में पड़ता है -सांख्य के अनुसार महत् तत्त्व अर्थात् बुद्धि गुण का परिणाम है। और जब अध्यवसाय इच्छा का दोष नष्ट हो जाता है, तो बुद्धि या महत् तत्त्व, जो गुण का परिणाम है, मुक्त हो जाता है। लेकिन इस

⁴⁸ श्वेता.उप

उपनिषत् का मन्तव्य टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार इससे भिन्न है। उनका कथन है कि इसे चाहे गुण कहें या बुद्धि, मन, चित्त, अहङ्कार, इत्यादि-यह वास्तव में कर्ता नहीं है, यह तो करण अर्थात् साधन मात्र है, क्योंकि साधक । मन से ही देखता है, मन से सुनता है। हम इसे काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धारणा, अधारणा अथवा धैर्य-अधैर्य, लज्जा, बुद्धि, भय, इत्यादि कुछ भी नाम दे दें, वास्तव में यह सब मन ही है। गुणों के प्रवाह में बहता हुआ और कलुषग्रस्त कर दिया गया अस्थिर, चञ्चल, विह्वल, कामनाओं से भरा और बेचैन । लौकिक व्यक्ति इस अभिमान में पड़ जाता है कि 'मैं अमुक हूँ, यह जगत् मेरा है'- इस प्रकार से मानते हुए वह स्वयं ही अपने को बन्धन में उसी प्रकार बाँध लेता है, जैसे -शिकारी के जाल से पक्षी बँध जाता है । इससे यही निश्चित हुआ कि पुरुष अध्यवसाय, सङ्कल्प और अभिमान रूप लक्षणों से बँधा हुआ है। इनसे विपरीत होने पर वह मुक्त हो जाता है। अतएव साधक के लिए यही उचित है कि वह अध्यवसाय, सङ्कल्प और अभिमान से रहित होकर रहे। मोक्ष का यही लक्षण है। यही वह मार्ग है, जो उसे ब्रह्म तक पहुँचाता है। इस सन्दर्भ में इसी प्रकार द्वार खुलता है। इसी से वह इस अन्धकार के पार जा पायेगा। इसी में सभी कामनाएँ समाविष्ट हैं। इस विषय में तत्त्ववेत्ताजन इस श्लोक को उद्धृत करते हैं। जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ निश्चल रूप से स्थित रहती हैं। बुद्धि विचलित होकर नाना प्रकार की चेष्टाएँ नहीं करती, उसी स्थिति और को अनुभवी व्यक्तियों ने परमगति कहा है। यह कहकर शाकायन्य अपने हृदयगत विचारों में लीन हो गये और मरुत् संज्ञक राजा बृहद्रथ उन्हें प्रणाम करके, यथोक्त विधि से उनके प्रति शिष्टाचार का पालन करके अपने मन कृतकृत्यता की अनुभूति करते हुए उत्तरायण की ओर चले गये,

क्योंकि इस सन्दर्भ में अन्य किसी मार्ग से नहीं जाया जाता। यह ब्रह्ममार्ग है। राजा बृहद्रथ सूर्य से सम्बन्धित द्वार का भेदन करके ऊपर उठते चले गए।

हृदय में दीपक से सदृश्य आलोकमय जो आत्मा है, नाड़ियाँ उसकी अनन्त किरणे हैं, जो श्वेत, शाम, भूरी, नीली, हल्की पीली, कपिल और कुछ-कुछ लाल रंग की हैं। उनमें से एक अर्थात् सुषुम्ना नाम्नी नाड़ी सूर्यमंडल का भेदन करके ऊपर ले जाती है। इसके द्वारा साधक कार्यरूप ब्रह्मलोक को पार करके भोग का अंत होने पर परमगति विष्णु के परमधाम के प्राप्त कर लेते हैं। ऊपर की स्थित अन्य जो सौ किरणे नाड़ियाँ हैं, उनके द्वारा साधक विभिन्न देवगणों के निजी धामों में पहुँचता है। इनके अतिरिक्त हल्के प्रकाश वाली तथा अनेक रूपों वाली जो किरणे नाड़ियाँ नीचे स्थित हैं, उनके माध्यम से साधक या उपासक अमुक्त अवस्था में अपने द्वारा किये गए विभिन्न कर्मों के फलों का उपभोग करने के लिए इस संसार में पदार्पण करता है।

इससे यह निश्चित होता है की सृष्टि, स्वर्ग और उपवर्ग मोक्ष इन सभी के मूल कारण भगवान् आदित्य ही हैं। पूछा गया है की ये इन्द्रियाँ किस आधार पर आरूढ़ होकर अपना-अपना कार्य करती हैं? कौन उन्हें ऊपर उठाने वाला है और कौन उनका नियन्त्रण करने वाला है?

इस के उत्तर में कहा गया है की ये इन्द्रियाँ आत्मा के आधार पर अवस्थित हैं। आत्मा ही इन्हें ऊपर ले जाने वाली तथा नियन्त्रित करने वाली है। इन्हें अपने-व्यापार में प्रेरित करते हैं, सूर्य की किरणे अप्सराएँ हैं। इन्हीं पाँचों रश्मियों के द्वारा क्रियाशील इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा विषयों का आस्वादन करता है।

प्रश्न उठता है की फिर यह आत्मा कौन-सा है? उत्तर में कहा जाता है की हो यह शुद्ध, पवित्र, शून्य और शांत इत्यादि लक्षणों से कहा गया है और जिसे उनके अपने ही विशिष्ट लक्षणों से समजा जा सकता है, वही आत्मा है। उसका एक विशिष्ट लक्षण यह है की उसका अपना कोई

विशिष्ट लक्षण नहीं है। कुछ तत्त्वज्ञानियों का कथन है की अग्नि की जो उष्णता है और जल का जो परमकल्याणकारक आस्वाद या रस है वह उसके सदृश्य है। अन्य तत्त्वज्ञानी कहते हैं की वाणी, श्रवणिंदिया, नेत्र, मन और प्राण आत्मा है। अन्य तत्त्वज्ञियों का विचार है की बुद्धि, धृति, स्मृति और प्रकृष्ट ज्ञान आत्मा है। अब ये सभी उस आत्मा के लक्षण उसी प्रकार से हैं, जैसे भूमिगत बीज का लक्षण है अंकुर, अग्नि के लक्षण है धूम, ज्वाला, अङ्गारे इत्यादि। इस सन्दर्भ में इस श्लोक को उद्धृत किया जाता है-

जैसे अग्नि से चिंगारियाँ और सूर्य से किरणे निकलती हैं, ठीक उसी प्रकार प्राण और अन्य सभी तत्त्व यथोचित कर्मानुसार बार-बार उसी आत्मा से प्रवर्तित होते हैं। इसलिए इस आत्मा से ही समस्त वागादि प्राण, सभी लोक, सभी वेद, सभी देवगण और समस्त प्राणी आविर्भूत होते हैं। उस कारण रहस्य यह यह है की वह सत्य का भी सत्य है। जैसे गीली लकड़ियों से जलाई गई अग्नि से धुएँ की राशि निकलती है और पृथक से दिखाई देती है, उसी प्रकार परमेश्वर के निःश्वास से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, श्लोक, सूत्र और अनुव्याख्यान निकले हैं। विश्व के समस्त प्राणी और अन्य तत्त्व उसी परम् सत्ता की व्याख्यास्वरूप ही हैं।

-----*****-----

षष्ठ अध्याय

आत्मा एवं मोक्ष का स्वरूप: विमर्श

- 6.1 शब्दब्रह्म का स्वरूप
- 6.2 निर्विषय मन से मोक्षप्राप्ति
- 6.3 आत्मस्वरूप का वर्णन
- 6.4 अग्निहोत्रविषयिणी उपासना
- 6.5 नाडी उन्नयन प्रकार

6.4 शब्दब्रह्म का स्वरूप-

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।

शब्दब्रह्मणी निश्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।¹

अभिप्राय यह है कि शब्द स्वरूप और शब्दरहित ये दो ब्रह्म ध्यान करने योग्य हैं। ये दोनों स्वतन्त्र हैं तथा उपाय और उपेयरूप हैं, इस विषय में कहा गया है- तदनन्तर शब्दस्वरूप से ही अशब्द अथवा शब्दातीत ब्रह्म भी प्रकट किया जाता है। इन दोनों के मध्य ओङ्कार शब्द संज्ञक ब्रह्म है। इस सर्वार्थवाचक शब्द की व्यापकता से साधक ऊपर अर्थात् प्रपञ्च से ऊपर उठकर वाच्यवाचकरूपता को पार करके शब्दातीत परब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाता है। जैसे-

¹ मैत्रा.आ. ६.२२

नदियाँ समुद्र में लीन हो जाती है। यह ब्रह्म में एकता ही परम गति है अर्थात् फल है। अमरता अर्थात् मोक्ष भी यही है। इसके द्वारा साधक सायुज्यभव तथा असीम आनन्द को प्राप्त कर लेता है। और जैसे मकड़ी अपने मुँह में निकली लार के द्वारा जाले को फैलाती हुई ऊपर ऊठती जाती है और निरङ्कुश विहार का स्थान पा लेती है, इसीप्रकार ओम् का ध्यान करते हुए साधक साधारण स्थिति से ऊपर उठकर स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेता है। कुछ साधक इसप्रकार से भी साधना करते हैं। वे शब्दब्रह्मवादी कानों में अँगूठा लगकर अर्थात् कानों को बन्द करके हृदयगत आकाश के भीतर के शब्द को सुनने का अभ्यास करते हैं। उस हृदयाकश में उठनेवाले शब्द की समानता सात प्रकार से बतलाई जाती है- जैसे नदियों के प्रवाह की ध्वनि, छोटी घंटी या आभूषण के बजने की ध्वनि, काँसे के पात्र की ध्वनि, मेढकों की टर्-टर्, रथ के पहिये के चलने की ध्वनि, वर्षा की ध्वनि, पक्षियों की चहचहाहट या घोड़ों की हिनहिनाहट, वायुरहित स्थान पर किसी व्यक्ति के बोलने की आवाज। इन ध्वनियों के सदृश अन्तराकाशगत जो शब्द है, उसी को कुछ ब्रह्मवेत्ता शब्दब्रह्म कहते हैं। विभिन्न उपमानों से अपनी पहचान करानेवाले ये शब्द अपनी-अपनी पृथक्ता के चिन्हों को पार करके शब्दातीत अव्यक्त ब्रह्म में समाविष्ट हो जाते हैं। वहाँ उनके न तो पृथक्धर्म रह जाते हैं और नहीं उनकी अलग से पहचान ही हो पाती है। जैसे विभिन्न फूलों के रस मधुमक्षिका के द्वारा चुने जाने पर भी एक में मिलने पर मधु शहद के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसी प्रकार से कहा है – ब्रह्म के दो रूपों को जानना चाहिए। इनमें से एक शब्द ब्रह्म है और परब्रह्म। शब्दब्रह्म में गोता लगाने बाद साधक परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

और अन्यत्र भी कहा गया है- यह ओङ्कार अक्षर ही शब्दब्रह्म है। इस प्रणव संज्ञक अक्षर का अग्रभाग अर्थात् नादावसानस्थान अथवा अकार शान्त, शब्दरहित, भयरहित, शोकरहित, आनन्दमय, सन्तुष्ट, स्थिर, अचल, अमृत, अच्युत, ध्रुव और विष्णु कहलाता है, ब्रह्म के सम्पूर्ण अपर अर्थात् शब्दातीत स्वरूप का अनुभव प्राप्त करने के लिए इसकी उपासना करनी चाहिए। इसीप्रकार से यह कहा गया है-

यह जो परात्पर देव अर्थात् परब्रह्म है, उसी का नाम है ओङ्कार। अभिप्राय यह है यही शब्दब्रह्म है और जो निःशब्द परब्रह्म है, निराकार है, उसका अभ्यास मूर्धा में या सर्वोत्कृष्ट स्थान हृदय में करना चाहिए। यहाँ पर मूर्धा का अभिप्राय हृदय है या दोनों भौहो के बीच नासिका के ऊपर का स्थान है। अन्य ग्रन्थों में इसे ही अविमुक्त कहा गया है।

इसके अनन्तर भी कहा गया है –

मानसे च विलीने तु यत्सुखं चाऽऽत्मसाक्षिकम्।

तद्ब्रह्म चामृतं शुक्रं सा गतिर्लोक एव सः।

साधक का यह शरीर धनुष है। ओम् अक्षर बाण है, उसका अर्थात् साधक का मन बाण की शिखा है, इसके द्वारा वह अज्ञानमय अन्धाकाररूप लक्ष्य का भेदन करके, अन्धकार से मुक्त होकर, अन्धकार से अनावृत आत्मस्वरूप तक पहुँच जाता है। समतल आसन पर बैठा हुआ साधक अपने शरीर को कुछ-कुछ धनुष के समान बनाकर, वक्षस्थल पर ठोड़ी को सटाकर, शरीर को खींचकर, उसमें प्रणवमन्त्र के नाद को बाण की तरह व्यक्त करके, उस नाद ले लय स्थान पर अपने मन को बाण को नोंक की तरह केन्द्रित करके, उस नाद के लय स्थान पर अपने आत्मा में मन को प्रविष्ट करे। तदनन्तर आविष्टार्थात् अहङ्कार का भेदन करके, अलातचक्र जलते हुए लकड़ी के पहिये के समान चमचमाते हुए, आदित्य के वर्णवाले, परम् ऊर्जस्वी ब्रह्मा का साक्षात्कार साधक अन्धकार से परे करता है। उस ब्रह्म का तेज वैसा ही है जैसी आदित्य, सोम, अग्नि अथवा विद्युत में चमकती हुई विभा होती है। ब्रह्मात्मदर्शन के बाद साधक अमरता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसे इसीप्रकार से कहा गया है-

साधक अपने अन्तःकरण में परब्रह्म पर केन्द्रित करता है - उसके ध्यान के लक्ष्यों में शरीर, प्रणव, मन और नाद के लय स्थान है। इससे उसका सामान्य अनुभव विशेषरूप से स्फुट हो जाता है। ध्यान की इस प्रक्रिया के माध्यम से जब साधक का मन विलीन हो जाता है, तो उसे आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से जो सुख मिलता है, वह ब्रह्म है, अमृत है, उज्ज्वल है, वही उस साधक की गति है वही उसका लोक है।

मन शरीरस्थ अग्नि पर आघात करता है। वह आहत अग्नि श्वास को प्रेरित करती है। श्वास वक्ष में विचरण करती हुई स्वर ध्वनि को उत्पन्न करती है।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारूताम्।

मारूतस्तूरसि चरन् मद्रं जनयति स्वरम्॥²

जीवात्मा बुद्धिद्वारा विषयों को ठीक प्रकार से जानकर उनको बताने की इच्छा से मन को काम में प्रयुक्त करता है, मन शरीर के अग्नि को चलाने के लिए धक्का देता है, शरीर का अग्नि फेफड़ेरूप कोष्ठ में वर्तमान वायु को प्रेरित करता है। इस प्रकार प्रेरित वायु वक्षःस्थल के अन्दर चलता हुआ प्रातसवन में प्रयोज्य और गायत्री छन्द से विशेषतया सम्बद्ध मन्द्र (गम्भीर) स्वर को उत्पन्न करता है। वही वायु कण्ठदेश चलता हुआ माध्यन्दिन सवन में प्रयोज्य त्रिष्टुप् छन्द से विशेषतया सम्बद्ध मध्यम स्वर को उत्पन्न करता है और शिर में चलता हुआ शिर में अभिव्यक्त, तृतीय सवन में प्रयोज्य तथा जगती छन्द से विशेषतया सम्बद्ध तार स्वर को उत्पन्न करता है। इसप्रकार ऊपर जाता हुआ प्राणवायु शिर में ठोकर खाके मुह में पहुँच कर अकारादि वर्गों को उत्पन्न करता है। जैसे- मथानी दही को मथकर घृत या मक्खन को ऊपर ले आती है, ठीक उसी प्रकार हृदय में उपर्युक्त, अग्नि के संयोग से वायु की सक्रियता से कण्ठ में क्रमशः अणु से अणु, तथा और फिर दो अणु, जिह्वा के अग्रभाग में त्र्यणु के क्रम से उच्चारित होने पर जो ध्वनि निकलती है, उसे मातृका अर्थात् वर्णमाला समझना चाहिए।

6.2 निर्विषय मन से मोक्षप्राप्ति- मन

मैत्रायण्य आरण्यक में मन का विशेष उल्लेख करते हुए कहा गया है –

² पाणिनीयशिक्षा.६

“ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः”³

मन ही मनुष्य के सुख दुःख अर्थात् बन्धन एवं मोक्ष का कारण है। मन ही एक ऐसा माध्यम हैं जिसमें मनुष्य के चेतनता का स्वरूप हैं। जिसको विभिन्न अभिधानों के माध्यम से सम्बोधित किया गया हैं जो इस प्रकार है - ज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, यति, धृति, मनीषा, स्मृति, संकल्प ऋतु और काम आदि। यहाँ मन को मनन कर्म के कारण परम तत्व की संज्ञा दी गई है।

प्रश्नोपनिषद् में मनस् शब्द की निरुक्ति इसप्रकार दी है- मनश्च मन्तव्यं⁴ अर्थात् मनन करने के कारण ही यह मन कहलाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में सुषुप्ति अवस्था में आत्मा की स्थिति का वर्णन करते हुए मनस् शब्द की निरुक्ति निम्न प्रकार से दी गई है। यथा-

यद् वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यन्मन्वीत्।⁵

अर्थात् वह जो मनन नहीं करता सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता। मनन करने वाले की मनन शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसके विषय में वह मनन करे। अतः मनन करने के कारण ही वह मन कहलाता है।

नूपुर की झंकार के समान मन में विभिन्न घात प्रतिघातों के अनुसार चेतना की झंकार होती है। इन्हीं स्वरलहरियों-ध्वनियों को संघान', आज्ञान', 'प्रज्ञान', 'मेधा', 'मति', धृति', 'मनीषा', 'स्मृति', 'संकल्प', 'ऋतु' और 'काम' कहा जाता है।

मनसोऽस्तित्वम्

³ मैत्रा.आ. ६.३४

⁴ प्र०उप० ४/८

⁵ बृहदारण्यक०उप० ४/३/२८

मानव की बाह्येन्द्रियां तो दृष्टिगोचर होती हैं। मन अन्तः इन्द्रिय है। परन्तु कैसे पता चलता है कि मन का अस्तित्व है या नहीं? मन पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों से भिन्न है। बाह्य इन्द्रियों जैसे नेत्रेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रियों के द्वारा देखे, सुने, अनुभव किये गये और भोगे गये विषयों का ज्ञान तथा मनुष्य की चेतना के मध्य मन संबंध स्थापित करता है। इसलिये कहा गया है कि मनुष्य मन से सुनता है, मन से ही देखता है। इसी से मन के अस्तित्व का बोध होता है। मन की सन्निधि में ही इन्द्रियाँ सांसारिक विषयों को भोगने और ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ मन के अधीन रहकर कार्य करती हैं।

“मनसा ह्येव पश्यति मनसा ह्येव शृणोति।”⁶

अणिष्ठतम मन

जो अणिष्ठतम है वही मन है। मनुष्य जो भी अन्न खाता है, वह जठराग्नि के द्वारा पचाए जाने पर तीन भागों में विभक्त होता है। खाये हुए अन्न का स्थूलतम भाग पुरीष-मल और मध्यम अंश मध्यम धातु बनता है; अन्न रसादिक्रम से परिणत होकर मांस हो जाता है। मन की प्रकृति उसकी पाचन क्रिया पर निर्भर होती है। अन्न का जो अणिष्ठ अर्थात् सूक्ष्मतम अंश है उसी से मन की निर्मिति होती है।

“अन्नमशितं त्रेधाभवति। तस्य यः स्थविष्ठोधातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं

योऽणिष्ठस्तन्मनः⁷।”

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनौवपशाम्यते।

तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनौवपशाम्यते॥⁸

⁶ बृह०उप. १/५/३

⁷ छा.उप. ६.५.१

⁸ मैत्रा.आ. ६.१

ईधन न मिलने से आग अपने आविर्भाव स्थान पर ही बुझ जाती उसी प्रकार वृत्तियों अर्थात् व्यावहारिक क्रियाशीलता के नष्ट हो जाने से चित्त भी अपने स्थान पर शान्त हो जाता है।

चित्तमेव हि संसारं तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।

यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥⁹

चित्त ही संसरण अर्थात् जन्म-मरण का मूल कारण है। अतः उसका परिष्कार प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। व्यक्ति के जैसे विचार होते हैं, वैसा ही वह बनता है, यह अत्यन्त प्राचीन एवं निगूढ रहस्य है।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।

प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥¹⁰

चित्त की प्रसन्नता से साधक अपने शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों को नष्ट कर देता है। प्रसन्नस्वरूपवाला साधक अपने में ही स्थित रहकर अविनाशी. सुख को प्राप्त कर लेता है।

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।

योगदर्शन में भी चित्त की प्रसन्नता के विषय में कहा गया है-

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में यथाक्रम, मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षा के भावना के अनुष्ठान से चित्त निर्मल होता है।

राग, ईर्ष्या, परापकार-चिकीर्षा, असूया, द्वेष और अमर्ष-संज्ञक राजस-तामसरूप ये छः धर्म को चित्त को विक्षिप्त करके क्लुषित कर देते हैं। अतः इनको चित्त का मल कहा जाता है। इन मलों से चित्त मलिन होकर विक्षिप्त हो जाता है और

⁹ वहीं. ६. ३

¹⁰ वहीं ६. ४

सविता देवता का वरणीय और भजनीय सर्वव्यापक तेज भी ध्यान का केंद्र हो सकता है, जो बुद्धि के भीतर स्थित तत्त्व पर ध्यान केंद्रित करता है, वह वहाँ मन की शांति के स्थान का अनुसरण करता है और पाने भीतर भी उसकी धारणा कर लेता है। इस सन्दर्भ में ये श्लोक हैं। जैसे ईंधन न मिलने से आग अपने आविर्भाव स्थान पर ही बुझ जाती है, उसी प्रकार वृत्तियों अर्थात् व्यावहारिक क्रियाशीलता के नष्ट हो जाने चित्त भी अपने स्थान पर शांत हो जाता है। सत्यानुरागी और शांत मन को भी यदि इंद्रियों के विषय विमूढ बना देते हैं, तो पूर्व कर्मों के अनुरूप उसमें मिथ्या भाषण प्रभृती विभिन्न दोष उत्पन्न हो जाता है। चित्त ही संसरण अर्थात् जन्म-मरण का मूल कारण है, अन्तः उसका परिष्कार प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। व्यक्ति के जैसे विचार होते हैं, वैसा ही वह बनता है, यह अत्यंत प्राचीन एवम निगूढ रहस्य है। चित्त की प्रसन्नता से साधक अपने शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों को नष्ट कर देता है। प्रसन्नस्वरूपवाला साधक अपने में ही स्थित रहकर अविनाशी सुख को प्राप्त कर लेता है।

प्राणी का मन जितना लोक में दिखाई पड़ने वाले विषयों में फंसा रहता है, उतना ही यदि ब्रह्म में केंद्रित हो जाय, तो कौन नहीं बन्धन से मुक्त हो सकता है ! मन दो प्रकार का बतलाया गया है--शुद्ध तथा अशुद्ध कामवासना से संयुक्त होने पर वह अशुद्ध हो जाता है और उससे मुक्त होने पर शुद्ध हो जाता है। मन को लय अर्थात् लौकिक विषयों में खो जाने तथा इधर उधर भटकने से बचाकर एवं सुस्थिर करके साधक है, जो वही मन उसका परम पद हो जाता है।

हृदय में मन को तब तक रोकना चाहिये जब तक उसका प्रभाव समाप्त न हो जाये अर्थात् जब तक वह नियन्त्रित न हो जाये। यही तत्त्वज्ञान है और यही मोक्ष है। इसके अतिरिक्त ग्रंथों में जो कुछ कहा गया है, सब विस्तार मात्र है।

समाधी पर्यन्त विभिन्न यौगिक प्रक्रियाओं के द्वारा जिसके मल दूर कर दिए गए हैं, ऐसे प्रक्षालित मन को आत्मा में समाविष्ट करने से जो सुखानुभूति होती है, उसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता है। इसे जो केवल अंतःकरण में अनुभव ही किया जा सकता है।

जैसे जल में जल, अग्नि में अग्नि और आकाश में आकाश पृथक् से दिखाई नहीं देते, उसी प्रकार जिसका मन भी अपनी आत्मा में लीन हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण केवल मन है लौकिक विषयों में आसक्त मन प्रबंध कारक होता है और उन विषयों से रहित हो जाने पर वही मोक्ष प्राप्ति में सहाय्यक सिद्ध होता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण केवल उनका मन है। लौकिक विषयों में आसक्त मन बन्धन-कारक होता है और उनसे रहित हो जाने पर वही मोक्ष प्राप्ति में सहाय्यक सिद्ध होता है। आत्मतत्त्व इन्द्रिय तथा मन से युक्त होकर ही मनुष्य भोक्ता है।¹¹ पुण्यापुण्य कर्मों के अनुरूप वह बंधन को प्राप्त करता है। परन्तु जैसे जुए की दृढ़ता के लिये उसे रस्सी से बांधते हैं वैसे ही मन को अभ्यास से एवं कठोरता से संयमित किया जा सकता है। मन को वश में करने वाला ही परमपद अर्थात् आत्मपद को प्राप्त करता है। आत्मतत्त्व मनोनिग्रह से प्राप्त होता है। इसलिये सर्वप्रथम मन को ही संयमित करना चाहिये। अन्नशुद्धि से सत्त्वशुद्धि होती है। जो व्यक्ति बहुत भोजन करता है, जो बिल्कुल भोजन नहीं करता उसका मन संयमित नहीं होता।

“नात्यशनतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्चतः।”¹²

इसके विपरीत युक्त आहार-विहार करने से मन नियंत्रित होता है। क्योंकि जब मन संयमित होता है तो अंतःकरण शुद्ध होता है। समस्त इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से हटकर मन में निरुद्ध हो जाती हैं। प्रणव रूपी नौका से सतत संसरणशील जगत् के समस्त भयावह स्रोतों को मानव पार

¹¹ कठ० उप० १.३.३

¹² गीता. ६.१६

कर लेता है।¹³ ध्यान के अभ्यास से जब वह परं ज्योति को देखता है तब शुद्ध पवित्र मन से परमात्मतत्त्वप्राप्त हो जाता है। मन के सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ सम्यक् रूप से स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती। वही परम गति है।¹⁴

मन उनमें उस आत्मा को करम फल भोगने वाले संसारिकों रथी अर्थात् रथ का स्वामी जान, और शरीर को रथ ही समझ, क्योंकि शरीर रथ में बंधे हुए अश्वरूप इन्द्रियगण से खिंचा जाता है तथा निश्चय करना ही जिसका लक्षण है। उस बुद्धि को सारथी जान क्योंकि सारथी रूप नेता ही जिसमें प्रधान है। उस रथ के समान शरीर बुद्धि रूप नेता की प्रधानतावाला है, क्योंकि देह के सभी कार्य प्रायः बुद्धि के ही कर्तव्य है। और संकल्प-विकल्पादि रूप मन को प्रग्रह यानी लगाम समझ, क्योंकि जिस प्रकार घोड़े लगाम से नियंत्रित होकर चलते हैं। उसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियाँ मन से नियंत्रित होकर ही अपने विषयों में प्रवृत्त होती है

इस प्रकार उन इन्द्रियों को घोड़े रूप से परिकल्पित किये जाने पर रूपादि विषयों को उनके मार्ग जानो तथा शरीर, इन्द्रिय और मन के सहित अर्थात् उनसे युक्त आत्मा को मनीषी विवेकी पुरुष यह संसारी है। ऐसा बतलाते हैं - केवल शुद्ध आत्मा तो भोक्ता है नहीं, उसका भोक्तृत्व तो बुद्धि आदि उपाधि के कारण ही इसी प्रकार ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ दूसरी श्रुति भी केवल आत्मा का अभोक्तृत्व ही दिखलाती है

अकुशल अर्थात् रथ संचालन में अकुशल अन्य सारथि के समान इन्द्रिय रूप घोड़ों की प्रवृत्ति-निवृत्ति के विवेक से रहित है, जो सर्वदा प्रग्रह अर्थात् विक्षिप्त चित्त से युक्त है। उस अनिपुण बुद्धि रूप सारथि के इन्द्रिय रूप घोड़े रथादि अन्य सारथि के बेकाबू घोड़ों के समान अवश्य यानी जिनका निवारण नहीं किया जा सकत। ऐसे हो जाते हैं किन्तु जो बुद्धिरूप सारथी विज्ञानवान मन को नियंत्रित रखने वाला अर्थात् संयतचित्त होता है। उसके लिए अश्वस्थानीय

¹³ श्वे०उप.२.८

¹⁴ कठ.उप२.१.१.१

इन्द्रियाँ प्रवृत्त और निवृत्त किए जाने में इस प्रकार शक्य होती है। जैसे -सारथि के लिए अच्छे घोड़े ।

किन्तु जो अविज्ञानवान, अमनस्क-असंयतचित्त और इसीलिए सदा अपवित्र रहने वाला होता है। उस सारथि के द्वारा वह जीवरूप रथी उस पूर्वोक्त अक्षर परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता। वह कैवल्य को प्राप्त नहीं होता केवल इतना ही नहीं बल्कि जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है।

जो विद्वान् पुरुष विवेकयुक्त बुद्धि-सारथि से युक्त मनोनिग्रहवान् यानी एकाग्रमन वाला होता हुआ पवित्र है। वह संसार गति के पार को यानी अवश्य प्राप्तव्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है अर्थात् सम्पूर्ण संसार बंधनों से मुक्त हो जाता है। उस विष्णु यानी परब्रह्मपरमात्मा का जो परम् पद अर्थात् स्वरूप है। उसे वह विद्वान् प्राप्त कर लेता है।

6.3 अग्निहोत्रोपासना अग्निहोत्र विशायिणी उपासना

यह गार्हपत्य संज्ञक अग्नि, जिसमें पाँच इष्टकाएँ ईंटें चुनी गई हैं, संवत्सर हैं अर्थात् इसका ध्यान संवत्सर के रूप में करना चाहिए। ये पाँच ईंटें वास्तव में पाँच ऋतुएँ हैं, जो क्रमशः इसप्रकार हैं – वसन्त, ग्रीष्म, शरद्, और हेमन्त। यह अग्नि पुरुषाकार है, जिसके एक शिर, दो पक्ष, पीठ और पूँछ ये अङ्ग हैं। यह पृथिवी प्रजापति की प्रथम चिति चयन है। अर्थात् सबसे पहले गार्हपत्याग्नि अग्नि के रूप में पृथिवी का ही चयन हुआ है। इसने अपने हाथों से अग्निहोत्र के अनुष्ठाता यजमान को उपर अन्तरिक्ष में उछाल कर वायु को सौंप दिया।

प्राण ही वायु है। प्राण अग्नि है। प्राण, अपान, व्यान, समान, और उदान संज्ञक। ये पाँच दक्षिणाग्निसंज्ञक अग्नि की इष्टकाएँ हैं। वह अग्नि पुरुषाकार है – शिर, दो पक्ष, पीठ, और पूँछ उस अग्नि के अंग हैं। यह अन्तरिक्ष प्रजापति की द्वितीया चिति है। जिसका सम्बन्ध दक्षिणाग्नि से है। इसने यजमान के हाथों से उछालकर उसे इन्द्र को सौंप दिया है। यह इन्द्र आदित्य है। यह

आहवनीय संज्ञक है अग्नि है। इसकी पाँच इष्टकाएँ ये हैं – ऋक्, यजुष, साम, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास और पुराण यह अग्नि भी पुरुषविध हैं, जिसके शिर, दो पक्ष, पीठ और पूँछ है ये अंग हैं। यह द्युलोक के प्रजापति की तृतीया चिति है। जिसमें आहवनीय संज्ञक अग्नि का चयन हुआ है। हाथों से यजमन को उपर उछाल कर यह आहवनीय संज्ञक अग्नि उसे आत्मज्ञानयुक्त ब्रह्मा को समर्पित कर देती है। तदन्तर आत्मज्ञाता ब्रह्मा उसे ऊपर ब्रह्मा को प्रदान कर देते हैं। वहाँ अर्थात् ब्रह्मा में रहते हुए वह यजमन आनन्दित और प्रसन्न रहता है।

पृथिवी गार्हपत्याग्नि है । अन्तरिक्ष दक्षिणाग्नि है । द्युलोक अहवनीयाग्नि है । इसी कारण ये क्रमशः पवमान (पवित्र), पावक (पवित्र करनेवाली) और शुचि (प्रकाशमयी) है— इन तीनों देवों से तीनों अग्नियों का यज्ञ प्रकट हो जाता है । चूँकि जठराग्नि भी पवमान, पावक और शुचि - इन तीनों अग्नियों की समूहभूत ही है, इसलिए अग्नि से यज्ञानुष्ठान करना चाहिए, अग्नि का चयन करना चाहिए, अग्नि की स्तुति करनी चाहिए। और उसकी उपासना ध्यान रूप में करनी चाहिए। यजमान हविष् को लेकर देवता का ध्यान करना चाहता है । हृदय के भीतर और सूर्य में सुनहरे रंग का पक्षी विराजमान है । वह आनन्दपूर्वक चहचहाने वाले , तेजस्वी और चमकदार हंस के सदृश है । हम इस अग्नि में उसका यजन करते हैं। इस मन्त्र का पथ करने के अनन्तर साधक अथवा उपासक उसके अर्थ का भी अनुसन्धान करे ।

इसलिए जो न अग्निहोत्र करते हैं, न अग्नि चयन करते हैं, और न उपासना करते हैं, उनके लिए ब्रह्मा के सर्वोच्च स्थान की कल्पना करना भी सम्भव नहीं है; वहाँ तक पहुँचना तो बिल्कुल असंभव ही है। अतएव अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिए, अग्नि चयन करना चाहिए और आध्यात्मिक भाव से उपासना करनी चाहिए। अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान का प्रयोजन चित्तगत अशुद्धि का क्षय है, जिस के बिना ब्रह्मा का अनुसन्धान असंभव है।

अग्नि को नमन ! पृथिवी पर निवास करती है, लोक की रक्षा करती है । हे अग्नि देव तुम इस यज्ञानुष्ठान अथवा उपासना में सलग्न यजमान को यह पृथिवी लोक प्रदान करो । अंतरिक्षनिवासी और उस लोक के सौरक्षक वायु देव को नमस्कार ! हे वायु देव तुम इस यजमान को अपने लोक की सुख सुविधाएँ प्रदान करो।

द्युलोक में निवास करने वाले और इस लोक को सुरक्षा करने वाले आदित्य को नमस्कार ! हे आदित्य देव तुम अपना लोक इस कर्मनिष्ठ यजमान को प्रदान करो ।

सर्वत्र निवास करने वाले और उस लोक की सुरक्षा करने वाले ब्रह्मा को नमस्कार ! तुम इस यजमान को सर्वस्व प्रदान करो ।

सत्य स्वरूप ब्रह्मा का मुख स्वरणमय पात्र से ढका है, हे पुषण आदित्य देव ! तुम इसे खोल दो, ताकि हम सत्यस्वरूप परमात्मा, जो सर्वव्यापक है, तक पहुँच सके अथवा उसका साक्षात्कार कर सके ।

आदित्य में वह जो पुरुष हैं, वह यह मैं ही हूँ । यह जो आदित्य का आदित्य भाव है, वह सत्यधर्मनिष्ठ है। वह शुक्ल वर्ण है, पुरुष है, लिङ्गरहित है, आकाश के अंतर्गत तेज का वह अंशमात्र है । यह जो तेजस अंश आदित्य के मध्य में है, उसी तरह वह आँख और अग्नि में भी है । यह ब्रह्म है। यह कभी मरता नहीं है। यह भजनीय अर्थात् सेवनीय है। यह सत्यधर्म आकाशांतर्गत तेज का अंशमात्र है, वह जो आदित्य के मध्य में अमृत तत्त्व है ।

जिसके सोम चन्द्रमा ओङ्कार है, वह यह ब्रह्म है । यह कभी मरता नहीं है । यह दीप्तिमान है। यह सत्यधर्म आकाशांतर्गत तेज का अंशमात्र है, जो आदित्य के मध्य में यजुष के समान चमक रहा है, वह ओम, जल, ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्मा, भूः, भुवः, स्वः तथा ओम है ।

यह जो आठ पैरोंवाला, चमकता हुआ, हंस-विवेकी तथा सर्वत्र गमन करनेवाला, तीन धागों में बँधा, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी, अच्छाई-बुराई रूप दोनों धर्मों में अन्धा अर्थात् उनसे परे, तेज से प्रदीप्त होनेवाला परमतत्त्व है, उसे देखनेवाला सब कुछ देख लेता है। आकाश के अन्तर्गत तेज का यह अंशमात्र है, जो सूर्य के मध्य में उदित होकर दो किरणों के रूप में हो जाता है। यह सत्यधर्म सविता है। यह यजुष् है। यह तप है। यह अग्नि है। यह वायु है। यह प्राण है। यह जलतत्त्व है। यह चन्द्रमा है। यह शुक्र शुक्ल है। यह अमृत है। यह ब्रह्म का विषय अर्थात् क्षेत्र है। यह किरणों का समुद्र है। इसी सिन्धु में यजमान लवण की भाँति विलीन हो जाते हैं, यह ब्रह्म के साथ उनकी अभिन्न स्थिति अथवा एकता है। इस स्थान पर पहुँचकर उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इस विषय में तत्त्वज्ञानी जन यह उद्घरण देते हैं। सूक्ष्मवायु के द्वारा आन्दोलित दीपक के समान वह, जो देवों के मध्य में रहता है, भलीभाँति चमकता है। जो इस रहस्य को जानता है, वह आत्मज्ञानपूर्वक द्वैत को समझ लेता है, ब्रह्म के साथ एकता की अनुभूति को प्राप्त करके वह स्वयं भी ब्रह्ममय ही हो जाता है। जो साधक समुद्र में उठनेवाले जल-बिन्दुओं और सर्वोच्च आकाश में मेघों के मध्य से छिटकनेवाले विद्युत्कणों की भाँति निरन्तर बिना रुके हुए साधनामार्ग में क्रमशः उन्नति करते हुए चलते रहते हैं, वे यश अर्थात् ब्रह्म के अर्चिष्मान् (प्रकाशमय) लोक में आश्रय प्राप्त करने पर अग्नि की जटाओं ब्रह्म-ज्योति के दो रूप हैं। उनमें से एक शान्त है और दूसरा समृद्ध अर्थात् सजीव है। जो शान्त रूप है, उसका आधार आकाश है और जो समृद्ध या सजीव है, उसका आधार अन्न है। इसलिए ब्रह्म के प्रथम रूप के निमित्त गृहस्थ अग्नि की वेदी में विनियुक्त मन्त्रों के पाठपूर्वक औषधियों विभिन्न वनस्पतियों, घृत, पुरोडाश और स्थालीपाक होम के निमित्त पकाये गये अन्न इत्यादि द्रव्यों से यज्ञानुष्ठान करना चाहिए।

द्वितीय

अर्थात् समृद्ध या सजीव स्वरूप के निमित्त यज्ञावशिष्ट अन्न-पानादि द्रव्यों से मुख को आहवनीयाग्नि मानकर उसमें डालना चाहिए अर्थात् खाना-पीना चाहिए। यह इसलिए किया जाता है, ताकि शारीरिक बल और कान्ति की समृद्धि हो और तब उस स्वस्थ एवं तेजस्वी शरीर से पुण्यलोकों पर विजय प्राप्त किया जा सके। अमरता भी प्राप्त की जा सके। इस सन्दर्भ में ये श्रुतिवाक्य उद्धृत किये जाते हैं। स्वर्ग की कामना से युक्त यजमान को अग्निहोत्रजन्य होम करना चाहिए। अग्निष्टोम याग का अनुष्ठान तो यम का राज्य भी जीत लेता है। अग्निष्टोम की विकृति उक्थसंज्ञक याग के अनुष्ठान से सोम का राज्य ज्वालाओं के सदृश प्रतीत होते हैं ॥

यजमान प्राप्त कर लेता है। षोडशीसंज्ञक याग के अनुष्ठान से सूर्य का राज्य यजमान जीत लेता है। अतिरात्र संस्था अग्निष्टोम के विकृति याग के अनुष्ठान से स्वाराज्य की प्राप्ति होती है। अहीनयागों से लेकर सहस्र संवत्सर पर्यन्त किये जाने वाले यज्ञों के अनुष्ठान के लोक को प्राप्त कर लेता है। जैसे बाती के सहारे और तेल के संयोग से दीपक जलता रहता है अर्थात् जब तक दीपक में बाती और तेल है, तब तक वह प्रज्वलित रहता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा और यह प्रकाशमान् सूर्य भी अन्तःकरण में स्थित परमात्मा के द्वारा गृहीत होने के कारण ही संस्थित हैं।

अग्निहोत्र का अनुष्ठान

अग्निहोत्र वह कृत्य है जिसमें अग्नि के लिए होम किया जाता है। इस यज्ञ में आहुति प्रतिदिन प्राप्त सूर्योदय से पूर्व एवम सूर्यास्त के पश्चात् दी जाती है। अग्निहोत्र के देवता अग्नि, सूर्य तथा प्रजापति हैं। मुख्य हावी के रूप में दूध तथा घृत का विधान है। विभिन्न कामनाओं की पूर्ति हेतु वैकल्पिक हावी द्रव्यों का उल्लेख है। यथा- यशोकामी एवं स्वर्गकामी दूध ते, इन्द्रियकामी दही से, ग्रामकामी यवागू से, अन्नकामी ओदन से, ओजस्कामि तपुल से, तेजस्कामी घृत से आहुतियाँ देता है। अन्य सब यज्ञ समाप्त हो जाते हैं परन्तु अग्निहोत्र समाप्त नहीं होता। बारह वर्ष तक चलने वाला यज्ञ भी अंतवाला है, परन्तु अग्निहोत्र उन्नत है। अतः यह जीवन पर्यन्त करना

पड़ता है। महानारायण-उपनिषद में कहा गया है की विधिपूर्वक स्थापित अग्नि में प्राप्तः तथा सायं अनुष्ठ होम अग्निहोत्र कहा जाता है। अग्निहोत्र को मोक्ष का उत्तम साधन मानकर विद्वज्जन् अग्निहोत्र का अनुष्ठान करते हैं। उपनिषद के अनुसार अग्निहोत्र की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है की प्रातः-सायं अग्निहोत्र ग्रहों की निष्कृति है, क्रय साधन मूल्य है के अभाव से क्षुधित अग्नि पर्व को जलाने विवश हो जाती है, अर्थात् अग्निहोत्र न होने से अग्नि क्षुधायुक्त होती है, अतः वह घरों को भस्म कर देती है अग्निहोत्र शोभन यागरूप है, शोभन होम रूप है, देवता विशेष को उद्देश्य बना कर द्रव का त्याग करना ही याग है। इस द्रव्य को अग्नि में आहूत करना ही होम है। सभी यज्ञ क्रतुओं का प्रारम्भ कृत्य अग्निहोत्र ही है। यह अग्निहोत्र स्वर्गलोक का प्रकाश है। इसी कारण से योगीजन व तपस्वी अग्निहोत्र को मोक्ष का उत्तम साधन मानते हैं।

अग्निहोत्र के सदर्थ में यह उल्लेख है की जब देवताओं को हविष्य पहुँचाने वाली अग्निहोत्र की वेदि में भलीभांति प्रज्वलित हो जाये और उस समय आज्य भाग के स्थान को छोड़ कर मध्य में आहुतियाँ डालनी चाहिए।

अग्निहोत्र का अनुष्ठान करते हुए साधक लोभ या लालच के जाल को काट देता है। उसके पश्चात् अन्य आकर्षणों के मोह को काटकर क्रोधजन्य भाव का अनुमोदन न करता हुआ। ब्रह्म प्राप्तिरूप केवल एक ही अभिलाषा की चिंता और तदनुरूप उपासना करता हुआ, ब्रह्म को उसके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन चार जालों को काटता हुआ। आकाश अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वहाँ पर सूर्य, सोम, अग्नि और सत्त्व के चार मण्डलों का भेदन करके और तदनन्तर शुद्ध होकर वह साधक सत्त्व में स्थित, अटल, अमृत, अच्युत, ध्रुव स्थिर विष्णु संज्ञक सर्वोपरि धाम को और सत्यकाम तथा सर्वज्ञता से युक्त स्वतंत्र चैतन्य स्वरूप को अपनी महिमा में प्रतिष्ठित होते हुए देखता है। इस सन्दर्भ में यह वचन उद्धृत किया जाता है -सूर्य के मध्य में

सोम स्थित है, सोम के मध्य में अग्नि स्थित है.तेजस् के मध्य में सत्त्व स्थित है और सत्त्व के मध्य में अच्युत स्थित है।

शरीर में हृदय के भीतर जिसका परिमाण मात्र अंगूठे के समान है, जो अणु से भी छोटे आकार का है, उस आत्मा का ध्यान करके साधक परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, जहाँ उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती है। इस विषय में ज्ञानीजन इस वचन को उद्धृत करते हैं शरीर में हृदयान्तर्गत जिसका परिमाण मात्र अंगूठे के बराबर है, दीपशिखा की भाँति, जो दो या तीन प्रकार से जलती रहती है और ब्रह्म के रूप में जिसकी स्तुति की जाती है, अखण्ड चैतन्यस्वरूप महादेव स्थावर जङ्गमादि जीवरूप से जो सर्वत्र व्याप्त है। उसमें अनुप्रविष्ट हो गया इस कारण आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है-अतः उसका ध्यान करना चाहिए। उस ब्रह्म को बारंबार प्रणाम है।

6.4 आत्मा का स्वरूप का वर्णन

आत्मा -“अतति सततं गच्छति, व्याप्नोति वा आत्मा”¹⁵ अर्थात् व्यापकता आत्मा का स्वरूपगत धर्म है, जो आप्त है अर्थात् जो सभी में व्याप्त हो वह आत्मा है ।

विभिन्न दर्शनों के आधार पर आत्मा का स्वरूप -

‘श्वेताश्वतरोपनिषद्’ में आत्मा को अंतर्यामी कहा गया है -

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरत्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चा ॥¹⁶

¹⁵ भारतीयदर्शन, परिभाषाकोश, पृ. ४२

¹⁶ श्वेता.उ. ६.११

अर्थात् जो सभी भूतों में अन्तर्निहित है। सब में व्याप्त है, सभी कर्मों का प्रत्यक्ष है, सभी भूतों में रहने वाला है और जो सभी का द्रष्टा है, निर्गुण है, वह आत्मा ही है।

‘गीता’ के अनुसार, “जो सर्व प्रकाशक और अलिप्त है वह आत्मा ही है। जैसे आकाश चारों ओर से भरा हुआ होता है, लेकिन सूक्ष्म होने से उसे किसी का लेप नहीं लगता है, वैसे ही आत्मा जब शरीर में रहती है तो किसी का लेप नहीं लगता है। वह आत्मा सारे शरीर को प्रकाशित करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य का प्रकाश सभी को प्रकाशित करता है।”¹⁷

गौतम के अनुसार- जो इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख और ज्ञान का जो आश्रय है, वह आत्मा ही है।¹⁸

उदयनाचार्य के अनुसार- इन्होंने आत्मा के स्वरूप को बतलाते हुए कहा है कि ‘आत्मा’ कर्ता है, क्योंकि उसी के गुण धर्म-अधर्म, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि भोगों का नियमन करते हैं।¹⁹

मीमांसा दर्शन के अनुसार- जो इच्छा, ज्ञानादि क्रिया का सम्पादक है, क्रिया सम्पन्न करने वाला है और क्रिया से भिन्न अस्तित्व रखने वाला है वह आत्मा ही है।²⁰

‘गौडपादाचार्य’ ने आत्म के स्वरूप को बताते हुए कहा है – ‘आत्मा निर्विकार है, क्योंकि जिस प्रकार घट की उत्पत्ति से आकाश को कोई हानि नहीं होती है, उसी प्रकार भूत या जीव की उत्पत्ति से आत्मा को कोई हानि नहीं होती है।’²¹

¹⁷ गीता, १२.३२-३३

¹⁸ न्या.सू. १.१.६

¹⁹ न्या.कु. १.१४

²⁰ मी.प्र.पृ. ६४

²¹ भारतीयदर्शन, परिभाषाकोश, पृ. ४२

‘बृहदारण्यकोपनिषद्’ में शंकराचार्य ने आत्मा के स्वरूप को अपने भाष्य में बतलाया है –“

दृष्टिरेव स्वरूपमस्य अग्न्योश्म्यवत् । न कणादनमिव दृष्टि व्यतिरिक्तोऽन्यश्चेतनो दृष्टः ।”²²

अर्थात् दृष्टि ही आत्मा है । दृष्टि से अतिरिक्त आत्मा का स्वरूप नहीं है ।

वेदान्तसार के अनुसार-

“नित्य शुद्ध-बुद्धमुक्त सत्य स्वभाव प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्त्विति वेदान्त विदनुभवः ।”²³

अर्थात् जो शुद्ध है, नित्य है, बुद्ध है, मुक्त है और सत्य स्वभाव वाला है, जो सबके भीतर चैतन्य स्वरूप रहता है वह आत्मा है ।

‘सांख्यदर्शन’में आत्मा को कर्ता व भोक्ता के रूप में माना गया है।

“पुरुषोऽस्तिभोक्तृभावात्कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च।”²⁴

आचार्य शंकर आत्मा को पारिभाषित करते हुए कहते हैं –

“स्थूल सूक्ष्मकारण शरीराद् व्यतिरिक्तोऽवस्था त्रयसाक्षी-

पञ्चकोशातीतः सच्चिदानन्दस्वरूपो यस्तिष्ठति स आत्मा ।”²⁵

अर्थात् जो तीन प्रकार के शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से भिन्न पाँचकोशों के अन्तर्गत आस्था त्रय का साक्षी होकर जो रहता है, जो सबका द्रष्टा है, वही आत्मा है । और आत्मा अखण्ड, सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है, अवाङ्मनसगोचर और अखिलाधार है।²⁶

²² बृ.उ.१.४१

²³ वे.सा,पृ.१४६

²⁴सां.का.२७पृ.४९

²⁵ आ.शंकर पृ.३५

²⁶ वेदान्तसार,पृ.१०८

इस प्रकार विभिन्न मतों के आधार पर आत्मा के स्वरूप को बतलाया गया है।

आत्मा की दुर्लभता

व्रतं पुरस्तादशक्यं - शाकायन्य ऋषि बृहद्रथ राजा से कहते हैं कि ये जो तुमने आत्म तत्व के विषय में पूछा है उसको पूर्व के ऋषि लोगों ने पहले ही सिद्ध वृत्त घोषित कर दिया है परन्तु आज के काल में यह प्रश्न दुःशक्य है क्योंकि आत्मतत्व को जानने से पहले चित्त का एकाग्र होना बहुत आवश्यक है- इसलिए इसे दुर्लभ कहा गया है।

आत्मज्ञान की दुर्लभता के विषय में कठोपनिषद् में कहा गया है-

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥²⁷

अर्थात् जो बहुतोंको तो सुनने के लिये प्राप्त होने योग्य नहीं है, जिसे बहुत से सुनकर भी नहीं समझते उस आत्मतत्व का निरूपण करनेवाला भी आश्चर्यरूप है, उसको प्राप्त करनेवाला भी कोई निपुण ही पुरुष होता है। तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्य रूप है।

इसीप्रकार गीता में भी कहा गया है-

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।

आश्चर्यवच्चेनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥²⁸

अर्थात् -यह आत्मतत्व दुर्विज्ञेय है। पूर्व में जो न देखा गया हो अकस्माद् दृष्टिगोचर हुआ है। ऐसे अद्भूत पदार्थ का नाम आश्चर्य है। उसके सदृशका नाम आश्चर्यवत् है। इस आत्मा को

²⁷ कठोपनिषद् १/२/७

²⁸ गीता २/२९

कोई (महापुरुष) ही आश्चर्यमय वस्तु की भाँति देखता है। वैसे ही दूसरा (कोई एक) इसको आश्चर्यवत् कहता है; अन्य कोई इसको आश्चर्यवत् सुनता है और कोई इस आत्मा को सुनकर देखकर और कहकर भी नहीं जानता।

अथवा जो इस आत्मा को देखता है और वह आश्चर्य के तुल्य है जो कहता है और जो सुनता है वह भी आश्चर्य के तुल्य है। अभिप्राय यह है कि अनेक सहस्रों में से कोई एक ही ऐसा होता है। इसलिए आत्मा बड़ा दुर्बोध है।

शश्वत्सूयमानात्सूर्यः सवनात्सविताऽदानादादित्यः पवनात्पावनोऽथाऽपोऽप्यायनादित्येवं ह्याह।²⁹
सदैव उत्पादक होने से सूर्य सूर्य कहलाता है। प्रेरित करने कारण वह सविता है। पृथ्वी से रस ग्रहण करने के कारण वह आदित्य कहलाता है। उड़ाने के कारण पवन कहलाता है। आप जल का नामकरण सबको आप्यायित अर्थात् तृप्त करने के कारण हुआ है।

खल्वात्मनोऽत्मा नेताऽमृताख्यश्चेता मन्ता गन्तोत्स्रष्टाऽनन्दयिता कर्ता वक्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा श्रोता स्पृशति च विभुर्विग्रहे सन्निविष्ट इत्येवं ह्याह। “प्राणो वा अमृतम्”

अमृतसंज्ञक प्राण आत्मा का नेता आत्मा ही है। वही शरीर में प्रविष्ट सर्वव्यापक तत्त्व चेता चित्तवृत्ति से सम्बद्ध होने पर चेता, मन से उपहित होने पर मनन करनेवाला, गमन करने वाला, आनन्द प्रदान करनेवाला, मल-मूत्रादि अपद्रव्यों को शरीर से बाहर निकालने वाला, कर्ता, वक्ता, रसास्वादन करानेवाला, सूँघनेवाला, द्रष्टा, श्रोता, स्पर्श करनेवाला है। इसी प्रकार से बतलाया गया है

अथ यत्र द्वैतीभूतं विज्ञानं तत्र हि शृणोति पश्यति जिघ्रति रसयति चैव स्पर्शयति।

सर्वात्मा जानातेति –

और जहाँ द्वैतपरक विज्ञान है, वहाँ वह सुनता है, देखता है, सूँघता है रसास्वादन करता है और स्पर्श करता है। सबको आत्मा ही समझना चाहिए।

²⁹ मैत्रा.आ. ६.७

आत्मेत्येववोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति।

यत्राद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणकर्मनिर्मुक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरूपाख्यं किं तदवाच्यम्।

जहाँ अद्वैतीभूतभाव का विज्ञान है, वहाँ वह कार्य, कारण और कर्म से पूरी तरह मुक्त है, उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, उसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती है और नहीं उसे कोई नाम ही दिया जा सकता है। फिर प्रश्न उठता है कि वह क्या है? इसका उत्तर यही हो सकता है कि वह अवाच्य है अर्थात् उसका कथन शब्दों से नहीं किया जा सकता है।

‘ईशा वास्यम्’ आदि मंत्रों का विनियोगः आत्मस्वरूप में :-

आचार्य शंकर ने ‘ईशावास्योपनिषद्’ में भी आत्मा के स्वरूप को वर्णित किया है -

“याथात्मयंचात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगत्वादिवक्ष्यमाणम्।”³⁰

अर्थात् ‘आत्मा’ कायथार्थस्वरूपशुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व और सर्वगतत्व है।

शुद्धत्व – आत्मा शुद्धत्व है। ‘शुद्धमपापविद्धम्’³¹ अर्थात् यह श्रुति बतलाती है कि आत्मा स्वभावतः शुद्ध है। इसमें किसी भी प्रकार से पापों का संयोग नहीं है। यह अविद्या रूपी मल से रहित होने के कारण शुद्ध व निर्मल है, जिस पदार्थ में अशुद्धि होती है। उसका संस्कार किया जाता है, तथा आत्मा तो शुद्धत्व है, तो उसका किसी प्रकार से संस्कार नहीं किया जा सकता है। आत्मा में तो किसी भी प्रकार की अशुद्धि का प्रसंग नहीं है।

³⁰वही.

³¹ ईशा.उ.८

सर्वगतत्व - आत्मा तो आकाश के समान सर्वव्यापक है। “जो सर्व प्रकाशक और अलिप्त है वह आत्म ही है। जैसे आकाश चारों ओर भरा हुआ है लेकिन सूक्ष्म होने से उसे किसी का लेप नहीं लगता है, वैसे ही आत्मा जब शरीर में रहती है तो किसी का लेप नहीं लगता है। वह आत्मा सारे शरीर को प्रकाशित करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य का प्रकाश सभी को प्रकाशित करता है।”³² अतः आत्मा सर्वगत है।

अशरीरी - लिङ्ग शरीर से रहित होने से अशरीरी है। मृत्यु होने पर शरीर नष्ट होता है न कि आत्मा। आत्मा तो वस्त्र की भाँति शरीर बदलती है। धर्म व अधर्म रूपी पाप से रहित है, अक्षत, स्नायु से रहित है।

सर्वद्रष्टा - आत्मा से अन्य कोई और द्रष्टा नहीं है, ऐसा श्रुति से भी सिद्ध होता है- “

नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा”³³

अतः आत्मा सर्वद्रष्टा है, मन का ईशान करने वाला अर्थात् सर्वज्ञ आत्मा ही है, आत्मा सर्वोत्कृष्ट और सबके चारों ओर है, इसलिए परिभू है। जो जिनके ऊपर है और जो ऊपर है वह सब स्वयं आत्मा ही है। आत्मा सब के लिए अनन्य है।

आत्मा का महत्व -

हृदय में विद्यमान यह आत्मा अतिसूक्ष्म, अग्नि के सदृश प्रदीप्त और सर्वाकारसम्पन्न है। समस्त प्राणी इसी में सन्निहित है। यह आत्मा पापरहित, वृद्धावस्थाहीन, मृत्यु और शोक से परे, भूख और प्यास से रहित, सत्यसङ्कल्पयुक्त तथा सत्तयकामना से युक्त है। यही परमेश्वर है। सभी प्राणियों की सर्वोच्च अधिष्ठातृ शक्ति यही है। सभी प्राणियों का यह संरक्षक है। सभी को आपस में

³² गीता, १२.३२-३३

³³ बृ.उ. ३।८।११

जोड़ने के कारण सेतुरूप और सभी को यथा स्थान सुविन्यस्त करनेवाला हैं। यह आत्मा ही ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शास्ता, अच्युत, विष्णु और नारायण है। यह जो अग्नि हृदय और सूर्य में है, वह सब एक ही है। उस विश्वरूप को जो सत्यस्वरूप आकाश में निवास करता है, नमस्कार है।

आत्मज्ञान-प्राप्ति के मार्ग की बाधाएँ

अब ज्ञान के मार्ग में जो बाधाएँ हैं, उन्हें बतलाया जा रहा- राजन्! वास्तव में मोहजाल की उत्पत्ति का केन्द्र यह है। जो स्वर्ग-प्राप्ति के अधिकारी उसके अनधिकारियों के साथ रहते हैं। यद्यपि उन्हें पहले ही उन्नत और फलयुक्त वाटिका के वृक्षों के विषय में बताया जा चुका है, लेकिन फिर भी वे नीचे उगने वाली घास-फूस के साथ चिपक जाते हैं। और इनके साथ नित्य प्रसन्न रहनेवाले, नित्य जीविका कमानेवाले, नित्य भिक्षावृत्ति करनेवाले और सदैव छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों से जीविकोपार्जन करनेवाले हैं। उन्हें आत्मज्ञान के लिए समय नहीं मिल पाता नगर या गाँव में भिक्षा माँगनेवाले, अनधिकारियों से यज्ञानुष्ठान करनेवाले, शूद्रों के शिष्य अथवा उनके गुरु, शास्त्र के ज्ञाता शूद्र ये भी आत्मज्ञान में, चाहते हुए भी समर्थ नहीं हो पाते। दुसरोँ को धोखा देनेवाले अथवा उनकी चुगली करनेवाले, ऐंठ या अकड़ में चूर रहनेवाले जट, नाचनेवाले, पेशेवर योद्धा, संन्यासी, रंगमंच पर अभिनय करनेवाले, राजकर्मचारी और पतित व्यक्ति ये भी आत्मज्ञान की दिशा में प्रयत्न नहीं कर पाते। जो पैसा लेकर यक्षों, राक्षसों, भूत-पिशाची और साँपों के विष को झाड़ने-फूँकने शान्त करने का दावा करनेवाले, मानसिक वैराग्य के बिना ही गेरुये कपडे और कानों में कुण्डल पहननेवाले, खप्पर लेकर चलनेवाले, झूठे तर्क और दृष्टान्त का कुहासा फैलाकर तथा चमत्कार या जादू दिखाकर वैदिक विद्वानों के मध्य स्थान पाने के इच्छुक- इन व्यक्तियों के साथ (आत्मज्ञान की दिशा में उन्मुख व्यक्ति को) नहीं रहना चाहिए। वे स्पष्टरूप से तस्कर अर्थात् अनुल्लेखनीय एवं अनुचित कर्म करनेवाले लोग हैं। ये स्वर्ग प्राप्ति के अधिकारी नहीं हैं।

ऊपर ज्ञान के जो अनधिकारी बतलाये गये हैं, उनमें बहुत सी ऐसी श्रेणियों के लोग भी परिगणित कर लिए गये हैं, जो आज समाज में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए – उद्योग-कार्यों में लगे लोग, राजकर्मचारी, सैनिक, पुलिस अधिकारी, अभिनेता इत्यादि। वास्तव में उन्हें अनधिकारी कहा गया है, क्योंकि सेवा में रहने के कारण इन्हें बहुत से अनुचित कार्य करने पड़ते हैं। इससे आध्यात्मिक उत्थान की दिशा में उनकी पात्रता प्रभावित होती है। उपर्युक्त अनधिकारियों की गणना का आधार वास्तव में सामाजिक स्थिति की उच्चता अथवा नीचता नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक पात्रता है।

तुरीय का महत्तरत्व का उपपादन-

आत्मा की चार स्थितियाँ हैं- चाक्षुष अर्थात् आँख में स्थित, स्वप्न देखनेवाला, सोया हुआ और सोये हुए से भी परे। इनमें से चतुर्थ स्थिति सर्वोपरि है। ब्रह्म इनमें से तीन स्थितियों में एक पाद से सञ्चार करता है और अन्तिम स्थिति में तीन पादों से सञ्चार करता है।

महात्मा की द्वैतभाव में स्थिति इसलिए होती है, ताकि वह सत्य और मिथ्या का स्वयं अनुभव कर सके।

आत्म साक्षात्कार करनेवाला साधक मृत्यु के भय को अनुभव नहीं करता, न रोग और दुःख पाता है। आत्म दर्शन करते हुए वह सबका दर्शन कर लेता है और सबसे सब कुछ पा लेता है। अर्थात् वह ब्रह्मभाव की स्थिति में पहुँच जाता है।

6.5 नाड़ी उन्नयन प्रकार

और अन्यत्र भी कहा गया है-ऊपर की ओर अर्थात् हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक जानेवाली सुषुम्ना नाम्नी प्राणसञ्चारिणी सूर्यरश्मि के द्वारा ब्रह्मलोकपर्यन्त प्राण का सञ्चरण करानेवाली तालु के भीतर जाकर विच्छिन्न अर्थात् कुण्ठित हो जाती है। वहाँ पर प्रयत्नपूर्वक साधक प्राण, ओङ्कार और मन से युक्त उस नाड़ी के द्वारा तालु के ऊपर के स्तनाकार लटके हुए माँस के भीतर प्रवेश के

माध्यम से ऊपर जाने का प्रयत्न करे। वहाँ जिह्वा के अग्रभाग को मोड़ करके, इन्द्रियों को प्राण और मन के साथ एकीकृत करके ऊपर की ओर गमन करे। इस उत्क्रमण में परिच्छेद सीमा की निवृत्ति से जो पूर्णता रूप महिमा है, उसको अनुभव करे। इस निरीक्षण से साधक निरात्मकता अर्थात् इन्द्रियों और मन के प्रभाव से मुक्त अनुभूति प्राप्त करता है-और इस अनुभव के बाद वह सुख दुःख का भाजन नहीं होता। वह कैवल्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार से यह बात कही गई है-- साधक पहले अभ्यास दशा में वश में किये गए प्राण को तालुस्थान पर स्थिर करके, तदनन्तर सीमित जीवभाव की स्थिति को पार करके, असीम ब्रह्मभाव को अनुभव करे।

यह जो दाहिनी आँख में रहनेवाला चाक्षुष पुरुष है, वह स्वयं तो इन्द्र और उसकी पत्नी बायीं आँख में रहती है। इन दोनों का मिलन अथवा समागम हृदय के भीतर स्थित विवर सुषि में होता है, वहाँ जो रक्त का पिण्ड होता है, वह उन दोनों का वास्तव में तेज है। हृदय से निकली एक प्रणाली आँख तक जाकर उसमें प्रतिष्ठित हो गई है। वह उन दोनों को जोड़नेवाली नाडी है, जो वास्तव में एक है, लेकिन दो भागों में विभक्त हो गई है।

छान्दग्योपनिषद् में – हृदयनाडी और सूर्यश्मिरूप मार्ग की उपासना

जो पुरुष ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे सम्पन्न और बाह्य विषयों की मिथ्या तृष्णासे निवृत्त होकर अपने हृदयकमल में विराजमान गुणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करता है उसकी यह मूर्धन्य नाडी के द्वारा गति बतलाई है।

आगे कहे जानेवाले ब्रह्मोपासना के आश्रयभूत इस पुण्डरीकाकार हृदय की जो उससे सम्बद्ध नाडियाँ आदित्यमण्डल से किरणों के समान उस हृदयरूप मांसपिण्ड से सब ओर निकली हुई हैं। वे पिंगलनामक एक वर्णविशेष से युक्त अणिमा अर्थात् सूक्ष्म रसकी हैं, तात्पर्य यह है कि वे उस रससे पूर्ण होकर तदाकार ही रहती हैं। इसी प्रकार वे शुक्ल, नील, पीत और लोहित रस से पूर्ण

हैं - इस पदका सर्वत्र अध्याहार करना चाहिये । पित्तसंज्ञक सौर तेज से परिपक्व हुए थोड़े - से कफ से सम्पर्क होनेपर पित्तनामक सौर तेज पिङ्गल वर्ण हो जाता है । उसी बात की अधिकता होनेपर नीला हो जाता है और कफ की अधिकता होने पर वही शुक्ल हो जाता है । कफ से वात की समता होनेपर वह पीला हो जाता है और रक्तकी अधिकता होनेपर लोहित । अथवा वैद्यक शास्त्र से इन वर्ण विशेषों का ये किस प्रकार होते हैं। ऐसा अन्वेषण करना चाहिए। शरीर के भीतर नाडियों के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता है इसमें कहते हैं- जिस प्रकार लोक में कोई महत् विस्तीर्ण मार्ग व्याप्त हुआ इस समीपवर्ती और दूरस्थ ग्रामों को जाता है, इसी प्रकार ये सूर्य की किरणें दोनों लोकों में उस आदित्य मण्डल में और पुरुष में जाती है अर्थात् महापथ के समान दोनों जगह प्रवेश किए हुए है। इस शरीर में पिङ्गलादि वर्णोंवाली नाडियों में प्रविष्ट होती है। तथा इन नाडियों से प्रवृत्त होकर फैलती हुई इस आदित्य मण्डल में प्रवेश करती है । और कहा गया है- जिस समय यह जीव सो जाता है उस समय सब और से नाडी के अन्तर्गत सौर तेज से सम्पन्न व्याप्त हो जाता है इसलिए तब इसकी इन्द्रियाँ बाह्य विषयों के भोग के लिए चक्षु आदि नाडियों के द्वारा विशेष रूप से अप्रसृत अर्थात् निरुद्ध हो जाती है। इसी से इन्द्रियों का निरोध हो जाने कारण अपने स्वरूप में ही स्थित हुआ यह जीव स्वप्न नहीं देखता।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानम्भिनिःसृतैका।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्गन्या उत्क्रमणे भन्त्युत्क्रमणे।³⁴

मास के पिण्डभूत हृदय से सम्बन्ध रखनेवाली एक सौ एक नाडियाँ हैं, इसलिए कहा है कि देह की नाडियों का कोई अन्त नहीं है। उनमें से एक मूर्धा की और निकल गयी है। उसके द्वारा ऊपर की ओर जाने वाला जीव अमृतत्व भाव को प्राप्त होता है। तथा अन्य नाडियाँ विष्वक् नाना गति वाली अर्थात् इधर-उधर जाने वाली और ऊर्ध्व गामिनी हैं। वे संसारप्राप्ति की द्वारभूत हैं, अमृतत्व की हेतुभूत नहीं हैं। फिर कैसी है? वे उत्क्रमण अर्थात् प्राणप्रयाण के लिए होती हैं- ऐसा इसका तात्पर्य है।

³⁴ छा, उप. ८/६/६

ध्यानबिन्दूपनिषद में प्राणों का संचरण करने वाली मुख्य दस नाड़ियाँ मानी गई है वे है--इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी। योगी को इस प्रकार का नाड़ीचक्र सदैव जान लेना चाहिए सतत प्राण का संचरण करने वाली इडा, पिंगला और सुषुम्ना--इस तीन नाड़ियों के अधिष्ठाता देवता क्रमशः सोम, सूर्य और अग्नि है। इन तीन नाड़ियों में इडा बाँयें भाग पर है और पिंगला दक्षिण भाग में है, सुषुम्ना इन दोनों के बीच में अवस्थित है। इस प्रकार प्राणों के संचार के तीन मार्ग हैं- ये प्राण इस प्रकार है--प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकरक, देवदत्त और धनंजय है। इनमें प्राण आदि पहले पांच विख्यात (मुख्य) हैं और नाग आदि अंतिम पाँच गौण हैं।

जाबालदर्शनोपनिषत में कहा है शरीर छियानबे अंगुलों के परिणाम वाला है मनुष्यों के शरीर के बीच तीन कोनों वाला अग्नि का स्थान है। वह तपाये गए स्वर्ण जैसी कान्तिवाला है।

हे सांकृति ! यह मैंने ठीक ही कहा है- गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिंग से दो अंगुल नीचे शरीर का मध्य भाग है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं हे मुनिवर सांकृति ! मूलाधार से नव अंगुल के अन्तर में कन्द है, ऐसा तुम जानो हे मुनिवर ! वह (कन्द) चार अंगुल लम्बा-चौड़ा कुक्कुट के अण्डे जैसे आकारवाला और त्वचा आदि से भूषित है। हे मुनिश्रेष्ठ ! उसके बीच में नाभि है, ऐसा योग जानने वाले कहते हैं। उस कन्द के बीच में नाड़ी आयी है उसे सुषुम्णा कहते हैं। हे मुनिवर ! उस नाड़ी के चारों ओर बहत्तर हजार नाड़ियाँ आई हुई हैं। उनमें चौदह मुख्य हैं। यह चौदह मुख्य नाड़ियाँ-सुषुम्ना, पिंगला, इडा, सरस्वती, पूषा, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, तपस्विनी, शंखिनी और गान्धारा नाम की है। इन चौदह नाड़ियों में भी तीन ही मुख्य है। और उन तीनों में भी एक ही नाड़ी--सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। इसे वेदांत जानने

वाले 'ब्रह्मनाडी' कहते हैं। यह सुषुम्ना नाडी पीठ के बीच में स्थित वीणादण्ड नाम के हड्डियों के समूह में से होती हुई मस्तक तक पहुंचती है। हे मुनि ! नाभिकन्द के नीचे दो अंगुल का कुण्डलिनी का स्थान है। हे मुनिवर ! वह कुण्डलिनी आठ प्रकृतिरूप है और वह वायु की चेष्टा को ठीक तरह से सन्तुलित करती रहती है तथा जल और अन्न आदि को कन्द के चारों ओर रोकती रहती है। उसने अपने मुख से ब्रह्मरन्ध्र का मुख ढँककर रखा है हे मुनि ! सुषुम्ना की बाँयीं ओर इडा नाडी है और दाहिनी ओर पिंगला है तथा सरस्वती और कुहू नाड़ियाँ भी सुषुम्ना के दोनों ओर स्थित हैं और गांधारा तथा हस्तिजिह्वाइडा की पीठ के दोनों पार्श्वों में अवस्थित हैं पूषा और यशस्विनी नाड़ियाँ पिंगला नाडी के पीठ के पूर्व भाग में आई हुई है और विश्वोदरी नाडी कुहू तथा हस्तिजिह्वा के बीच में आई हुई है। यशस्विनी तथा कुहू के बीच में वरुणा स्थित है और पूषा तथा सरस्वती के बीच यशस्विनी कही जाती है।

जैसे जगत में कूप,तालाब आदि अनेक छोटे छोटे जलाशयों में जितना स्नान-पान आदि प्रयोजन सिद्ध होता है, वह सब प्रयोजन सब ओर से परिपूर्ण महान जलाशयों में उतने ही परिमाण में सिद्ध हो जाता है अर्थात् इसमें उनका अंतर्भाव है।

इस तरह सम्पूर्ण वेदों में यानी वेदोक्त कर्मों से जो प्रयोजन सिद्ध होता है अर्थात् जो कुछ उन कर्मों का फल मिलता है, वह समस्त प्रयोजन परमार्थ तत्त्वों को जानने वाले ब्राह्मण का यानी सन्यासी का जो सब ओर से परिपूर्ण महान जलाशय स्थानीय विज्ञान आनन्द रूप फल है, उसमें उसने ही परिमाण से सिद्ध हो जाता है अर्थात् उसमें उसका अन्तर्भाव है।

-----*****-----

संकेताक्षरसूची

संकेताक्षर	ग्रन्थनाम
अ०	अध्याय
अथर्व ०	अथर्ववेद संहिता
अष्टा०	अष्टाध्यायी
आर०	आरण्यक
उप०	उपनिषद्
ऋग्०	ऋग्वेदसंहिता
ऋ० भा०	ऋग्वेदभाष्यभूमिका
ऐ० आर०	ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
कठ०	कठोपनिषद्
कौषी० उप०	कौषितकी उपनिषद्
गृह्य०	गृह्यसूत्र
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
मैत्रा० आ०	मैत्रायणीय आरण्यक
केन० उप०	केनोपनिषद्
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
तै० आर०	तैत्तिरीय-आरण्यक
तै० उप	तैत्तिरीय उपनिषद्
छा० उप०	छान्दोग्योपनिषद्

नि०	निरुक्त
मनु०	मनुस्मृति
पा०शि०	पाणिनीय शिक्षा
बृह०उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
चिकित्सा०	चिकित्सास्थान
न्याय०	न्यायदर्शन
पार०गृ०	पारस्कर गृहसूत्र
महा०	महाभारत
महा०	महाभाष्य
यजुः०	यजुर्वेद संहिता
तैत्ति०उप०	तैत्तिरीय उपनिषद्
शत०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
साम०	सामवेद
श्वेता०उप०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
बौधा०धर्म०	बौधायन धर्मसूत्र
शां०आ०	शांखायन आरण्यक
भ०गी०	भगवद्गीता
सु०सू०	सुश्रुतसूत्र
मु०उप०	मुण्डकोपनिषद्
मा०उप०	माण्डूक्योपनिषद्

-----*****-----

सन्दर्भग्रन्थसूची(Bibliography)

प्राथमिकस्रोत -

- आपस्तम्ब-धर्मसूत्रम्. (आ. आपस्तम्बः)सं (उमेशचन्द्र, पाण्डेयःचौखम्बासंस्कृतसीरीज आफिस, वाराणसी : १९६९, द्वितीयसंस्करणम्।
- आरण्यकचयनम्,प्रो. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय एवं डॉ. शम्भु कुमार झा, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली : २०१३
- आश्वलायन गृह्यसूत्रम्. गणेशशास्त्री, गोखले,आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना : १९३७.
- ईशादि नौ उपनिषद्. गीताप्रेस, गोरखपुर : वि.सं. २०६६.
- उपनिषत्सञ्चयनम् ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः,अनु.केशवलालवी शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान : २०१५
- ऋग्वेदसंहिता, सायणभाष्य. वैदिक संशोधन मण्डल, पूना : १९७२.
- ऐतरेय आरण्यक(English Translation), ए. बी. कीथ
- ऐतरेय आरण्यक (सायणभाष्यसहित), आनन्दाश्रमपूना : १८९८.
- गौतमधर्मसूत्राणि. आ. गौतमः.)सं (उमेशचन्द्र, पाण्डेयः. चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी : १९६६, द्वितीय संस्करणम्।
- तैत्तिरीय आरण्यक (सायणभाष्यसहित), सं. राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता : १८७२.
- त्रयी परिचय. सत्यव्रतसामश्रमी. ओमप्रकाश (हिन्दी अनुवादक). हिन्दी समिति उत्तरप्रदेश शासन, १९७५.

- *निरुक्तम्, दुर्गावृत्ति.* आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना : १९१८.
- *मैत्रायणीयं आरण्यकम्, सं.* श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी सूरत, १९५६
- *मैत्र्युपनिषद्, श्रीरामतीर्थविरचित दीपिकासमेता, सं.* ओमप्रकाश पाण्डेय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी २००१
- *बौधायनधर्मसूत्रम्.* आ. बौधायनः.)सं (आचार्य नरेन्द्र कुमार. विद्यानिधि प्रकाशन, नई दिल्ली : १९९९. प्रथमं संस्करण।
- *मनुस्मृतिः.* मनुः.)सं (राजवीर शास्त्री. (अनु.) सुरेन्द्र कुमार. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, नई दिल्ली : जून २०००. पंचम संस्करण.
- *मैत्रायणी संहिता,* सं. दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी : १९४२.
- *यजुर्वेद संहिता.* (सं.) महर्षि देवराज. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी : १९७०.
- *याज्ञवल्क्यस्मृतिः.* आ. याज्ञवल्क्यः.)सं (आचार्य 'काव्यतीर्थ' नारायणराम. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली : २००२, द्वितीयसंस्करणम्.
- *शांखायन आरण्यक,* आनन्दाश्रम, पूना : १९२२.
- *सामवेद संहिता.* श्रीपाद दामोदर सातवलेकर. स्वाध्याय मण्डल, पारडी : १९३९.
- *Aitareyabrahmanam* Vols. I, II, & III - Rashtriya Sanskrita Sansthan, New Delhi, 2006.
- *Aitareyanyakam* (With Commentary by Sayana) Anandashram, Poona, 1959.
- *Maitrayaniyam Aranyakam,* Svadhyaya Mandal, Paradi, Surat, 1956.

- *Mysticism and Symbolism in Aitareya* - Dr. Dhavan B.D., Taittiriya Aranyakas Gian Publishing House, Delhi, 1988.
- *Taittiriya Aranyaka* (With the Commentary by Sayana) Anandashram, Poona, 1981.
- *The Aitareya Aranyaka* (Edition) Keith A.B., The Clarendon Press, Oxford, 1907.
- *The Aitareya Aranyaka* — A Study Dr. Suman Sarma, Eastern Book Linkers, Delhi, 1981.
- *The Aranyakas- A Critical Study* Dr. Didhiti Biswas, Sanskrit Book Depot, Kolkata, 2003.
- *The Sankhayanaranyaka* (English Translation) - Keith A. B., Oriental Books Reprint Corporatic New Delhi, 1975.

द्वितीयकस्रोत –

- अल्लेकर, अनन्त सदाशिव. *प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति*. मनोहर प्रकाशन, वाराणसी : १९८०. प्रथम संस्करण.
- अवस्थी, शशि. *प्राचीन भारतीय समाज*. बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना : १९८१.
- उपाध्याय, बलदेव, *भारतीयदर्शन*, शारदामन्दिर, वाराणसी, १९९७

- उपाध्याय, बलदेव. *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति*. शारदामन्दिर, वाराणसी : १९६७.
- काणे, पी. वी.. *धर्मशास्त्र का इतिहास*. भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना : १९४१.
- कुमार, नरेन्द्र. (सं.), *धर्मसूत्रीय आचार संहिता*. विद्यानिधि प्रकाशन, नई दिल्ली : १९९९.
प्रथम संस्करण.
- कुमार, शशिप्रभा, *वैदिक विमर्श*, जे.पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली : १९९६
- कुमार, शशिप्रभा, *वैदिक अनुशीलन*. विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली : १९८९.
- कुमार, शशिप्रभा. *वैदिक संस्कृति के विविध आयाम*. विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली : २००५.
- कृष्णचन्द्र. *भारतीय संस्कृति*. सुरभारती प्रकाशन, दिल्ली : १९९२.
- कोसंबी, दामोदर धर्मानन्द. *प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता*. अनु. गुणाकर मूले.
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली : २००७.
- गैरोला, वाचस्पति. *वैदिक साहित्य और संस्कृति*. चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर लाल बंगला रोड, दिल्ली.
- झा, लक्ष्मीश्वर. *वेदों का मौलिक स्वरूप*. अभिषेक प्रकाशन, जवाहर नगर, नई दिल्ली.
- द्विवेदी, कपिलदेव. *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति*. विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी : २०१०.
- भगवद्दत्त, पण्डित, *वैदिकवाङ्मय का इतिहास*, पंजाब, १९३५
- *भारतीय दर्शन*, (तत्त्व और ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय), जयदेव वेदालंकार, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली : २००१

- मीमांसकः, युधिष्ठिर. *वैदिक सिद्धान्त मीमांसा*. श्रीमती सावित्री देवी बागाडीया ट्रस्ट, कलकत्ता : १९९२.
 - राधाकृष्णन्, डॉ. एस., *भारतीय दर्शन*, राजपाल एण्ड सन्स, १९६६
 - रानी, डा. प्रतिभा, *वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा*, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली : १९८९
 - राय, कुमार. *वैदिक इण्डैक्स (भाग- I, II)*. चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी : १९६२.
 - राय, विमलादेवी. *वेदकालीन समाज और संस्कृति*. कला प्रकाशन, वाराणसी : २००१.
 - राय, प्रताप चन्द्र, *आरण्यकेषु प्राणतत्त्वम्*, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, २०२१
 - वेदालंकार, जयदेव, *वैदिक दर्शन*, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली : १९९१
 - शर्मा, सुमन, *ऐतरेय आरण्यक एक अध्ययन*, ईस्टर्न बुक लिंक्स, दिल्ली २०११
 - शर्मा, कुन्दनलाल. *वैदिकवाङ्मय का बृहद्इतिहास*. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियारपुर.
 - शर्मा, रघुनन्दन. *वैदिक सम्पत्ति*. विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली : २००३.
 - शास्त्री, रामशरणत्रिपाठी, *वेदान्तसार*, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी : २०१६
 - शास्त्री, मंगलदेव. *भारतीय संस्कृति का विकास*. भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी : १९६६.
- प्रथम संस्करण.
- सत्यश्रवा, भगवद्भक्त. *वैदिक वाङ्मय का इतिहास*. प्रणव प्रकाशन, दिल्ली : १९७६.
 - सिद्धान्तालंकार, डॉ. सत्यव्रत, *वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार*, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली-२००२

- Bose, A.C. *The Call of the Vedas*. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai : 1999.
- Bloomfield. M. *Hymns of the Atharvaveda*. S. B. E. 42. : 1967.
- Griffith, RTH. *The Hymns of the Atharvaveda* (Voll.-2). D.K. Publishers, Delhi : 1995.
- Maxmuller, F. *A History of Ancient Sanskrit Literature*. Varanasi : 1968.
- Mitra, Priti. *Indian Culture and Society in the Vedas*. Calcutta: 1985.
- Mukharjee, Radhakumud. *Ancient Indian Education (Brahmanical and Buddhist)*. Motilal Banarasidass Publications, Delhi : 2011.
- Plantilla, Jeffereson R. ed. *Human Right in Asian Culture Continuity and Chalange*. Hu Rights Osaka.
- Roy, Jay Tilak Guha. *Human Right For the Twenty First Century*. Indraprastha New Delhi: Indian Institute of publication AD.
- Sastry, T.V. Kapali. *Collected Works*, Dipti Publications, Delhi : 1905.
- *The Religion and Philosophy of the Atharvaveda*. Poona : 1952.

कोशग्रन्थ :

- *अमरकोश*. अमरसिंह. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई : १९६१.
- *वाचस्पत्यम् (छःभाग)*. चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला. ग्रं.सं. १४, वाराणसी : १९६९.
- *वैदिक पदानुक्रम कोश*. (सं.) विश्वबन्धुः. विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध संस्थान, होशियारपुर : २०१२.
- *शब्दकल्पद्रुमः(पाँच भाग)*. चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थ संख्या ९३, वाराणसी : १९६७.
- *संस्कृत हिन्दी कोश*. वामन शिवराम आप्टे. मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली : १९८९.
- *English-Sanskrit Dictionary*. Monier – Williams. Munshiram Manoharlal, Delhi : 1976.
- *Vedic Bibliography (Volls-I-VI)*. R.N. Dandekar. Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona: 1961. Encyclopedia of Hinduism, vol-8, P-R.11
- *Encyclopedia of Indian Philosophies*, vol-3, Advaita Vedanta up to Sankara and his Pupils, Karl H. Potter, Motilal Banarsidass Publishers private limited, Delhi, 1998
- *Oxford English-Hindi Dictionary*, Oxford University Press, London, 2007.
- *UpaniṣadVakyakośah* : Colonel g.A.Jacob, Motilal Banarsidass, 1999.
- *Vacaspatyam*, Taranath Tarkavacaspati, Rastriya Sanskrit Sansthan, Delhi, vol-6, 2002.

पत्र-पत्रिकाएं :

- *Bharatiya Vidya*, Bharatiya Vidya Bhavan , Bombay.
- *Humanities*, Nagapur University, Journal.
- *Institute of Sanskrit And Indological Studies*, Punjab University, Hoshiarpur
- पावमानी त्रैमासिकी वैदिक- शोधपत्रिका, स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ.

अन्तर्जालीयस्रोत :

- i. www.wikipedia.com
- ii. www.britannica.com
- iii. www.hindunet.com
- iv. <http://www.sacred-texts.com/hin/>
- v. http://onlineresearchjournalsssm.in/?page_id=1902
- vi. <http://www.maanavta.com/vedas/>
- vii. <http://aksharsah.blogspot.com/>
- viii. <http://dw.com/p/19Z6V>
- ix. www.worldCat.org
- x. www.IndCat.inflibnet.nic.in

xi. www.sanskrit.nic.in
